भाषणांजलि



स्वामी अद्वैतानन्द

भारत सेवाश्रम संघ

भाषणांजलि

स्वामी अद्वैतानन्द

अनुवादक

सुनीति चरण भट्टाचार्य

प्रकाशक :
स्वामी सारस्वतानन्द
भारत सेवाश्रम संघ
२११ रासविहारी एभिन्यु
कोलकाता-७०० ०१९

प्रथम संस्करण
जन्माष्टमी-२४२५
मुद्रण संख्या-१०००

मूल्य : २०·००

मुद्राकर :-
रबीन्द्रनाथ सरकार
सेञ्चुरी प्रेस
२१, पटुयायेला लेन
कोलकाता-७०० ००९

ॐ

अर्घ्य

जिनका चुम्वक आकर्षण से
यौवन की शुरूयात में उनके चरणतले पुहूचा इस दीन सेवक;
जिनका अशेष आशीर्वाद से
इस मूक संतान वाचाल हुए तथा उनके भावना के वार्तावह बने;
जिनकी दैवी दृष्टि से
वाक्य वनना मंत्र तथा उसका यथायथ प्रयोग से बनता इंद्रजाल;
जिनके प्रत्यक्ष निर्देश से
उनका अतुल संघ का भावादर्श अविलभ्व चारों ओर प्रचारित हुए,
उन्हींकी भाववाणी
'भाषणांजलि' रूप में उन्हीं के श्रीचरण कमल को
अर्पित हुए

—अयोग्य संतान



युगाचार्य श्रीमत् स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज
प्रतिष्ठाता—भारत सेवाश्रम संघ

प्रकाशक का निवेदन

भारत सेवाश्रम संघ के संस्थापक आचार्य श्रीमत् स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज के प्रथम ससशिष्य में स्वामी अद्वैतानन्दजी विशिष्ट थे। वे वाल्यकाल से अनासक्त तथा निलिर्स स्वभाव के थे। सत्यनिष्ठ अर्थात् सभी समय सत्यरक्षा में तत्पर थे। उनके दिल में हमदर्दी, समाज कल्याण की भावना तथा परोपकार की चिन्ता सदा विद्यमान रहती थी। वाल्यकाल से ही वहुत शान्त तथा लाजुक स्वभाव के थे।

मुकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।

यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द-माधवम्।।

इय शास्त्र वाक्य के सचाई का एक उज्ज्वल उदाहरण थे स्वामी अद्वैतानन्दजी। उन्हें श्रीगुरुकृपा, आशीर्वाद और प्रयत्न का उत्तम फल मिला। एकसमय थे वे प्रवचन की ईच्छा व प्रवचन की शक्ति प्ररित होकर रास्ता और पार्क में प्रवचन करते रहते थे।

जिन की शक्ति से स्वामी अद्वैतानन्दजी का नया जनम हुया वही संघगुरु आचार्य देव कहते थे – ''जब अद्वैतानन्द भाषण करते हैं विरोधिओं के सारे संशय, द्विविधा और मुक्ति कुचलकर तुरन्त अनको संघ के अनुरक्त कर लेते है। उसका एक एक भाषण हजारों नरनारी को संघ का भावादर्श से प्रेरित करता है। वाकई उसके भाषण दीक्षादान का काम करता।''

स्वामी अद्वैतानन्दजी के विभिन्न विषयों पर वंगला, हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती भाषा में लगातार प्रवचनों की प्रशंसा में गुरुभाईओं उन्हे 'अद्वैत केशरी' कहते थे। कुछेक गुरुभाई कहते थे ग्रामोफोन रेकार्ड। इन प्रवचनों की कुछेक हिन्दी में जनसमाज में प्रचारित की गड़े थी। कीड़े भी व्याक्ति इस प्रयास से उपकृत हो तो मैं सर्वदा के लिए आभारी रहुँगा।

प्रकाशकस्य

सूचीपत्र

आदर्श गृहस्थ जीवन

मेरे आदरणीय गृहस्थ साथीओं, स्नेहमयी माताओं और भगिनीओं,

आज मैं एक ऐसा विषय पर चर्ची करुगां जो आपलोगोंके लिए बुहत अहम है और उपयोगी भी है। वह विषय है—'आदर्श गृहस्थ जीवन'। विषय का नाम सुन कर शायद आपलोग सोचने लगें कि, आप तो हैं एक वालस-न्यासी जिसने यौवन में सब कुछ तुच्छ और मिथ्या इानकर अपने स्वेच्छा से संसार त्याग दे कर त्याग व्रत आपनाये हैं। तो ऐसी स्थिति में यह किस तरह सम्भव हो कि आप गृही जीवन की जटिल समस्यायो पर स्पष्ट विचार करें।

साथीओं, आपलोगोंके यह तर्क एक तरफ से सच भी है और अकाट्य भी है। पर सबसे पहले मैं आपको यह याद करवाऊँ कि मेरे जीवन के शुरूयाती कई वर्षो, मेरे इच्छा से हो या अनिच्छा से ही, संसाराश्रम में मातापिता और भाई बहनों के आदर् में बीतें। आगे चल कर मैं वैराग्य व्रत अपनाया। अत: जब मैंने सन्यास जीवन में आया तो संघ का प्रचारकार्य करते हाजारों गृही परिवार से सम्पर्क का अवसर मुझे मिला, एवं उसी तरह उनके गृही जीवन के सुख-दुख, भले-बुरे इत्यादि समस्योंसे मैं भलीभाँति परिरिचित हुआ। ऊपरंतु, प्रचारकार्य के उपयोगी ज्ञान संग्रह करने की खातिर यह आवश्यक हुआ कि मैं शास्त्रचर्ची के माध्यम से गृही जीवन के कर्तव्य और जिम्मेदारी से सम्वंधित जानकारी हासिल कर लूं। तो उसी प्रकाश के जरिए मैं आज के विषय पर चर्चा करने की कोशिश करुंगा। हमें यह भरोसा है कि, अगर इसी आलोचना में कोई भी गलती नजर आए तो आप कृपया वह माफ कर देंगे।

साथीओं, आज का विषय पर जाने से पहले यह जानना आवश्यक है कि आपके गृही जीवन भी भारतीय चतुराश्रम का अन्तर्गत है, एवं शास्त्र का कहना है कि गृही जीवन वर्णाश्रम समाज का मध्यविंदु है। इस पर स्वयं मनु महाराज कहते हैं—

यथा वायुमाश्रित्य वर्तंते सर्वे जंतव:।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तंते सर्वे आश्रम:।।

अर्थात जैसे वायु को आधार या आश्रय बना कर प्राणीकुल जीते हैं उसी तरह गृहस्याश्रम को आश्रय बना कर और तीनाों आश्रम आपने अस्तित्व बनाये रखते हैं।

साथीओं साधु-संत के मठ-आश्रम दर्शन करने के लिए आपलोग तीरथ यात्रा करते हैं तथा उन मठ-आश्रम देख कर अपनेको धन्य मानते हैं। पर आप भूल बैठे हैं कि आपही के गृह-परिवार भी एक आश्रम है। उस आश्रम का जायजा लेने के लिए साधु-संत कभी कभी आपके घर पर पधारते हैं तथा किस तरह आप उसी आश्रम का कर्तब्य और जिम्मेदारी निभाते हैं, वह उस अवसर में देख लेते हैं। वाकई सर्वत्यागी साधु-संत और आदर्शनिष्ठ तथा उदारचरित गृहीओं की आपसी सेवा-सहायता, लेनदेन से ही हमारा हिन्दु समाज बढ़ा है।

पर ऐसा समय भी बीच बीच में आया जब साधु और गृहीओं के सम्पर्क में ढीलापन समाया, अंत में टूट भी गया। तभी समाज पर मंडराया दुर्योग-विपत्ति की घनघोर कराल साया, तथा जातीय जीवन पर उतरा भयानक उथल-पुथल।

साथीओं, मध्ययुग में हमारे समाज तथा जातीय जीवन पर उतर आया था खोफनाक दुर्दिन। उस समय हमारे देश के तथाकथित वेदांतवादी नाम एक संत के गुट ने त्याग-वैराग्य के नाम पर एक गलत वाणी घोषित की थी—'यह संसार झूट है, मायाका खेल है'। यानी इस संसार है एक स्वप्न की भाँति अलीक और असार, माया-मोह का आगार भी। इस संसार का अस्तित्व, भूत-वर्तमान-भविस्य कुछभी सच नहीं। तो उस संसार की सेवा में लगे संसार-निष्ठ गृहीओंसे तनिक सम्पर्क से संतोके सन्यास-धर्म कलूषित तथा नष्ट होने का खतरा था।

साथीओं, विचार-वैराग्य के नाम पर जब साधु समाज उस गलत तथा कल्पित विचार के घेरे मे रहा, एवं नतीजा में कुछ साधु बने रूखा-सूखा वैरागी, फिर दूसरे कुछ साधु मठाधीश महांत होकर अंवार धन-दोलत के मालिक हुए एवं भोग-विलास में डूबे, तब साधु और गृही दोनें समाज की ही गिराव हुई। धीरे धीरे साधु-संतों जनसेवा का आदर्श भूल कर घोर स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रिक हुए, और गृहीजन तपस्वी साधकों से सम्पर्क कट कर हुए आदर्शभ्रष्ट तथा गुमराह। हिन्दु समाज का फिलहाल अधःपतन का जो चित्र हमारे सामने हाजिर है, उसका मूल कारण यही है। पर हम खुशनसीब है कि वह दुर्दिन और दुःसमय तकरीबन कट चुका, एवं उसका शुभ शुरूयात इसी में हैं, जो आपलोग भी देखे हैं—इस युग के आदर्श सन्यासी और तपस्वी के गुट आपलोगोंसे स्वागत बिना, अपनी इच्छा से प्रेरित होकर आपलोगोंसे सम्पर्क बनाने को पधारे हैं। हिमालय के गुफा छोड़, काशी, वृंदावन, हरिद्वार आदि तीरथ के मोह त्याग कर वे आपही के नगर और गाँव के बीच मठ-आश्रम रचित किए हैं। नरनारायण की सेवा ही उनके जीवन का व्रत है। यह वाकई है युग परिवर्तन का मंगलमय शुरूयात। तो आईए, हम सन्यासी ओर गृही मिलकर मध्ययुग के भूल-भ्रांति, त्रुटी-विचयुति माफ कर दें, और आपसी सेवा-परिचर्या के जरिए दोनों आश्रम को ही गौरवदीप्त और महिमामंडित बना लें। मेरे भाईओं और बहिनों, कितना मधुर, शांतिदायी शव्द है 'आश्रम' जिसके साथ जुड़े है कितने पवित्र यादें। वाकई इसी शब्द हमें हमारा महिमामंडित अतीत युग का याद दिलाता—वह होम-धूप की सुरभि, वातास में गुंजता वेदमंत्र का उच्चारण, सामगान से भरे तपोवन—मानो जिस युग रहा भारतीय सभ्यता विकास की चोटी।

साथीओं यकीन कीजिए कि वह गरिमामंडित शुभदिन अब आनेवाला है। तो आईए इस शुभ अवसर पर हम सब मिलकर नवयुग का स्वागत करने का महान् व्रत लें।

मेरे गृही भाईवहनों, सबसे पहले मैं आपको 'गृही' शब्द का जन्मगत अर्थ सुनाना चाहता हुँ। 'गृही' शब्द का व्याकरणगत व्याख्या होता—'गृहे तिष्ठति यः स गृहस्थः', यानी जो गृह में बसते है वही गृही (गृहस्थ) है। 'गृही' शब्द का इसी अर्थ अगर स्वीकार किया जाए तो हम जो सर्वत्यागी सन्यासी होने का गरव करते हैं हम भी गृही गिने जायेंगे। क्योंकि

सन्यासीओं भी किसी गृह में बसते। मठ-आश्रम तो अरण्य वृक्षतल नहीं होते, वे घर ही होते।

तो साथीओं, गृह पर शास्त्रकारने और भी स्पष्टीकरण दी है—'गृहिणीम् गृहमुच्यते' गृही का आसली घर है उनकी पत्नी। विवाह-बंधन के पश्चात आप पत्नी के साथ संसार संभलने लगते तो गृही बनते। और स्त्री का देहांत होने पूर आप होते गृहशून्य। वाकई तब आप घर में बसते हुए भी गृही नहीं रहते।

साथीओं 'गृही' शब्द का उपरोक्त शास्त्रगत अर्थ मान लेने से वह भी मानना पड़ता कि विवाह का साथ शुरु होता है आपके गृही जीवन, जिसके पर्व आप रहते ब्रह्मचारी। अब यह जान लेना जरुरी कि विवाह का आसली उद्देश्य क्या है? यानी जिस विवाह से आपके गृही जीवन का शुभारम्भं होता उसका आसली लक्ष्य और उद्देश्य क्या है। तो उस पर शास्त्र का कथन सबसे पहले आलोचना करते हैं। विशेष रूप से वहन करने का पवित्र संकल्प, यही है विवाह शब्द का तात्पर्य। संसाराश्रम में प्रवेश-इच्छुक वर-वहू को आपसी जिम्मेदारी निभाने का संकल्प लेना पड़ता।

साथीओं, इसी संदर्भ में गैर आर्य जातिओं और हिन्दु विवाह का तुलनात्मक फर्क अच्छी तरह समझ लिया जाए। पाश्चात्य देशोंमें विवाह का सही माने है एक 'सोस्याल कानट्राक्ट' यानी समझौता के जरिए सम्पर्क। अर्थात विवाह करने इच्छुक वर-बहु एक कानुनी समझौता के जरिए विवाहित जीवन स्वीकार कर लेते तथा न्यायालय अथवा गीर्जा में समझौता पर हस्ताक्षर करते हैं। मगर हमारे विवाहपद्धति है उससे पूरा अलग। हम विवाह को एक यज्ञ या व्रतरूप देखते, अंग्रजी में जिसे Sacrament कहा जाता। पाश्चात्य के देशोंमें समझौता भङ्ग करने से विवाह-विच्छेद होता। किंतु पवित्र मन्त्रोच्चारण के साथ अग्नि को गवाह मान कर हिन्दु दम्पति जो व्रत की जिम्मेदारी लेते उससे आपसी रिस्ता बनता अकाट्य और अछेद्य भी। इसके अलावा, पाश्चात्य विवाह में मातापिता या अभिभावकों की रजामंदी की बात गौण होती। विवाह में इच्छुक दुलहा-दुलहन की मोहब्बत विवाह में दोने को जोड़ती। अधिकांश क्षेत्र में अभिभावकों को हामी भरना नहीं पड़ती। मगर हिन्दु विवाह में दुलहा-दुलहन की महव्वत और पसंद अहमीयत नहीं रखते। सबसे पहले पितामाता एवं परिवार के और लोगों की रजामंही जरुरी होती। हिन्दु विवाह में केवल दो परिवार जुड़े नहीं रहते, बल्कि इससे समाज भी जुड़े होते। अर्थात दुलहा-दुलहन के पारिवारिक रिस्ता ही सबकुछ नहीं होते, समाज के मुख्य लोग यकीन कर लेते कि उस विवाह द्वारा समाज जीवन के समतोलन, प्रेम और अनुशासन बरकरार रहेगा। जिस विवाह से इतने विचार जुड़े होते उसका आदर्श कितना उन्नत और महान्, उस पर गौर करने से वह साफ नजर जाता है।

साथीओं, आफशोष यह है कि लम्बे मुद्दत दूसरे कौम से सम्पर्क का नतीजा हमारा पवित्र विवाह का आदर्श का अधिकांश ही कलुषित होने लगा। हमारा आधुनिक हिन्दु समाज में भी Contract marriage, Companion marriage, Divorce system आदि चालू हुआ। पर हमारा वर्तमान समाजचित्र से आसानी से देखा जाता कि उसका नतीजा खराब ही हुआ है। हाँ, हिन्दु विवाह पर जो दहेज का रिवाज जम कर बैठा है वह भी घृनित और

जघन्य है। पर यह देख कर हम हैरान होते हैं कि हमारे शिक्षित एवं तथाकथित खानदानी घरो में ही इस अण्याचारी रिवाज की जड़ सबसे ज्यादा जकड़ी है। उसका परिणाम यह हुआ कि घर घर में अधिक वयः कुँवारीओं के दीर्घश्वास और मातापिता के आर्तनाद समाज जीवन को पीड़ित करते। एक और खतरा हमारे समाज जीवन पर आया जो है फिलहाल चालू हिन्दु कोड बिल। इस बिल कानूनी शकल पाने का परिणाम हिन्दु समाज का संख्याबल घटता और गैर हिन्दुओं का संख्याबल बढ़ता है। आजका प्रजातांत्रिक युगमें जब संख्याबल इतनी अहमीयत रखता, तब हमारे तथाकथित हिन्दु राष्ट्रनायकोंकी इस प्रकार की बेवकूफी दितोंदिन समाज को अपाहज और राष्ट्रको दुबला बनाती है।

तो साथीओं, अब इस पर गौर क्या जाए—क्या विवाह मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक है? क्या विवाह वाकई अपरिहार्य्य और अवश्य स्वीकार्य एक प्रथा है? इन सवालोका जवाब के लिए हमें विवाह प्रथा की उतपत्ति खोजना पड़ेगी। हम प्राचीन साहित्य से जान पाते कि प्राथमिक दौर में मनुष्यगण जब यायावर जीवन के आदि रहे आरण्य मनुष्य के बीच विवाह का रिवाज नहीं था। कामलिप्सा पूरने के लिए पशुओं की भाँति नरनारी जब, जहाँ और जिससे मरजी मिल लेते। पर उस प्रकार मिलन से जो संतान-संतति जन्म लेते, जब धीरे धीरे उनके पालन-पोषण की बात अहमीयत पा ली तो उन संतानों की माताओं ही सबसे पहले समझीं कि पुरुष आपने मन-मरजी से उनको गर्भवती कर उसकी जिम्मेदारी नही लेगा, उल्टा संतान पालन का पूरा बोझ नारी पर ही रहेगा। तो उस स्थिति में केवल नारीको ही मगतना पड़ेगा सारा दुःख-क्लेश और बेचैनी। अतः नारीओंने चाहा कि प्रेम-प्रार्थीओंको प्रेम-वंधन में बाँध लूं। वस्तुतः उनके उस प्रयास से ही एकनिष्ठ दाम्पत्य प्रेम का तकाजा धीरे सामने आया एवं पर्यायक्रम बनी पारिवारिक जीवनधारा। हिन्दु दाम्पत्य प्रेम में निष्ठाभाव को ऊँची जगह देने का श्रेयः नारी समाज को ही जाता है।

साथीओं, फिरभी सबाल उठता है, अगर मनुस्य जीवन का अंतिम लक्ष्य है सर्व प्रकार बंधन से मुक्ति तो वैवाहिक बंधन स्वीकार क्यों क्या जाए? बड़ा ही पेचीदा सवाल है यह। वैराग्य साधना का मुर्तिमान प्राणपुरुष आचार्य शंकर ने अपने मोहमुदगर स्तोत्र में कहा :

का तव कांता कस्ते पुत्रः
संसारोयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातः
तत्वं चिन्तय यदिदं भ्रातः।।

अर्थात तुम्हारी पत्नी है कौन, तुम्हारा पुत्र भी है कौन, तुम ही हो किसके और तुम आया कँहासे? इस संसार है बड़ा ही विचित्र—भाइओं, इसी पर गहरी चिंता करो।

साथीओं, सन्यास-प्रार्थी साधकों के लिए उपरोक्त चिंता पूरा स्वाभाविक भी और अतिप्रयोजनीय भी। पर सवाल है, क्या सब लोग ही प्रथम जीवन से ही विवेकी तथा वैराग्यवान होकर चिरकौमार्य वत लेने का अधिकारी होते? क्या अधिकांश नरनारी के प्राणो में विषय-वासना या भोग-प्रवृत्ति खूब ही प्रबल नहीं होते? तो उसी स्थिति में क्या उस भोग-वासना जबरन् दवाना वाजिब होता? क्या जबरन दवाने का फल शुभ होता? हरगिज नहीं।

इसी युग के मनस्तत्वविशारदगण भी कहते हैं : Forced suppression or celibacy is a dangerous thing. Its reaction upon body and mind is very very grave. It brings in insanity and many kinds of social maladies. अर्थात जबरन भोग-वासना दबाने की कोशिश बहुत ही खतरनाक होती। देह और मन पर इसका जो बिरूप प्रतिक्रिया होता वह प्रायश: मानसिक विकृति एवं नानविध सामाजिक व्याधि का कारण होता। इसी वजह से यह स्वीकार ना कर उपाय नहीं कि मनुष्य हृदय और मन का स्वाभाविक विकास के लिए विवाह है एक अत्यावश्यक प्रथा। नरनारीओं के जैव जीवन का प्राथमिक स्तर में विवाह प्रथा को इनकार करना वाजिब नहीं है।

साथीओं, बालब्रह्माचारी हाने का गर्व जिनलोग में है वेभी अतीत किसी जनम का किसी एक पर्याय में गृही जीवन का तजरबा पा कर वैराग्य-संस्कार लेकर देहत्याग दिए थे। तभी पूर्व जन्म का संस्कार की कृपा से पहला यौवन में ही संसार अनित्य और नश्वर होने का बोध उनको होता है, इस पर ठाकुर श्रीरामकृष्ण कहते थे, यथार्थ एवं आदर्श बाल सन्यासी जो होते वे पूर्व जन्म में राजैश्वर्य भोग कर विरक्ति का संस्कार लेकर आते। अत: संसार का भोग-सुख, रूप-रस आदि उनको मोहित नहीं कर पाते। इस दृष्टिकोण से देखें तो गृहाश्रम का आवश्यकता स्वीकार करना ही पड़ता। आइए, अब हम इस अत्यावश्यक प्रथा का उद्देश्य एवं आदर्श के बारे में और भी कुछ जान लेते हैं।

साथीओं आर्य दृष्टि से विवाह का दो उद्देश्य है। पहला—'पुत्रार्थ क्रियते भार्या', यानी आदर्श संतान-संतति पाने के लिए ही विवाह किया जाता। दूसरा—'सस्त्रीक धर्माचरेत', यानी स्त्री को साथ लेकर धर्मविचरण करना होता। तो लीजिए, पहला उद्देश्य पर आलोचना करते हैं।

साथीओं, साधारणत: हम कहते हैं, वंशरक्षा के लिए विवाह अत्यावश्यक होता एवं संतान जो पिण्डदान करता उससे निधनहुए मातापिता की आत्मिक सद्गति होती है। पर सवाल है क्या यह वंशरक्षा की प्रथा पितृपुरुष की रक्तधारा अटूट रखने तक सीमित होती? हम कहेंगे, हरगिज नहीं। आदर्श विवाह द्वारा दम्पति न केवल मातापिता की रक्तधारा अटूट रखते, बल्कि वे पितृपुरुष के गुण-गरिमा की धारा अटूट और अपने बलबुते से उसे और भी गौरवद्दीप्त करते हैं। कौन मातापिता को यह आशा नहीं होती कि उनके संतान-संतति उनसे अधिक गौरवशाली हो?

साथीओं, इस-विषय पर तुलसीदासजी ने एक विख्यात दोहा में कहा कि पुत्र ओर मुत्र एक ही जगह से निकलते हैं। पर पुत्र की अहमीयत यह है कि वह प्रकृत ज्ञान तथा धर्मानुशीलन द्वारा अपने तथा जाति-देश का गौरव बढ़ाता! इसीलिए महात्मा मनु ने कहा, पुत्र दो प्रकार के होते—धर्मज ओर कामज। अर्थात उन्नत धार्मिक प्रेरणा से जनम लेता धर्मज पुत्र, किंतु घृणित काम-वासना से जनम लेता कामज पुत्र। एकबार महत्मा गांधी को पूछा गया, आपके बड़ा लड़का हरिलाल इतना उच्छृङखल और उन्मार्गगामी कैसे हुआ। आप पति-पत्नी दोनों ही धार्मिक रहे तथा आदर्शनिष्ठ जीवन बीता कर जाति तथा देश की कितनी सेवा की हैं। जवाब में गांधीजीने सीधा कहा—जब हरिलाल जन्मा हमारा मानसिक संस्कार उन्नत नहीं था। हम दोनों थे भोग-प्रवण। तो हरिलाल में उसी संस्कार प्रतिबिम्वित है।

साथीओं, गांधीजी के उस सत्य कथन से आप भलिभाँति समझेंगे कि धर्मज और कामज पुत्र जनम लेने का कारण क्या है। आप मानेंगे भी आदर्श संतान-संतति पाने के लिए आपने रूचि-प्रवृत्ति कितना ही संस्कार और साफ करना जरुरी होता। आपके गोद में अशुभ संस्कारवाला संतान जनम लेने से प्रायश: ही आपलोग भगवान को दोषी ठहराते हैं, कहतें हैं कि भगवान ही आपके घर में एक प्रेत या शौतान भेजा है। अब आपलोग मानेंगे कि संतान का भला या बूरा संस्कार के आपही (यानी जनक-जननी) जिम्मेवार हैं, भगवान नहीं। इसी लिए यह देखा जाता कि आज तक जितने महापुरुष जन्मे हैं उनके जन्मवृत्तांत थोड़ाज्यादा अलौकिक होता। रामायण और महाभारत के पाठ से आपलोग श्रीराम एवं श्रीकृष्ण के जन्मकहानी जानते हैं। पुत्र-संतानहीन सम्राट दशरथने पुत्र पाने के लिए जब अपने गुरु के आदेश पर शुद्ध मन-बुद्धि होकर सस्त्रीक पुत्रेष्टि यज्ञ का आयेजन किया तभी वह श्रीराम, लक्षण, भरत, शत्रुघ्न को पाकर घन्य हुया था। बसुदेव-देवकी कंस का कारागार में अत्याचार से जर्जरित होकर जब भूभार हटा लेने का प्रार्थना कर रहे थे, उनके प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण पधारे। भगवान बुद्ध का जन्म का इतिहास भी है बड़ा ही विचित्र। उनकी माताने एक दिन स्वप्न देखी—एक सफेद हाथी उनके पेट के भीरत जा रहा। उस अदभुत स्वप्न वृत्तांत सुनकर ज्योतिषीने भविष्यवाणी किए थे—आपके गर्भमें जो संतान आएगा वह होगा एक परम गुणमय और प्रजारंजक सम्राट, नहीं तो एक युग प्रवर्तक महापुरुष। सिद्धार्थ का आविर्भाव से उस भविष्यबाणी साकार हुई। आचार्य शंकर भी एक सन्यासी का आशीर्वाद लेकर जन्मे थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस का जन्मवृत्तांत तो आप में से ज्यादातर लोग जानते ही हैं। उनके पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय गयाघाम में पवित्र पिंडदान कार्य में लगे हुए थे जब वह स्वप्न देखे—श्रीभगवान विष्णु उनके पुत्र रूप में उनके घर आ रहे हैं। गाँव में उनकी पत्नी चंद्रमनि देवी भी उस स्वप्न देख कर आनन्द से भर उठी। स्वामी विवेकानन्द की माता भुवनेश्वरीदेवी ने पूरा एक साल देवादिदेव महादेव की पूजा-आराधना कर अपने कुलपावक तथा विश्व वरेण्य संतान लाभ की थी। और जिस युगपुरुष का आदर्श एवं बाणी के प्रचारक के रूप में हम आपके पास आए हैं उसी आचार्य प्रणवानन्दजी का जन्मवृत्तांत के पीछे भी एक अलौकिक कहानी है। गाँव का अत्याचारी जमींदार की जियादती से जर्जरित होकर अनका पिता विष्णुचरण और माता सारदादेवी ने एकसाल एकाहारी रहकर अपने गृहदेवता नीलरुद्र से व्याकुल प्रार्थना की थी, जिसका फल स्वरूप युगावतार महान आचार्य आविर्भूत हए। केवल अध्यात्मक्षेत्र में ही नहीं लौकिक जगत में जिनलोग विशेष ख्याति और प्रतिष्ठा पाये हें उनके जन्म के पीछे भी इसी तरह की कहानियाँ होतीं। इतिहास पढ़ने से हम जानते हैं कि छत्रपति शिवाजी के जन्म से पहले उनकी माता जीजाबाई ने अपने इष्टदेवता से व्याकुल प्रार्थना की थी—"हे प्रभु, भक्तराज प्रह्लाद को तुमने कितने विपदसे रक्षा किया। कौरव राजसभा में धर्षण की गयी द्रोपदी की इज्जत तुमने अपने अलौकिक तप:प्रभाव से रक्षा की। राज्य खोये पंचपाण्डव को परतंत्रता से उद्धार कर तुमने उनको अपने राज्य में पुन:प्रतिष्ठित की। हे पतितपावन भगवान, आज कहाँ हो तुम? घनघोर दुर्दिन में जब हिन्दु का मान-इज्जत लूटा जा रहा है, तुम हो कहाँ? हिन्दु का इस संकटमय काल में तुम विपदहारी रूप में पुन:आविर्भूत हो।"

साथीओं, इसी पल में आपलोग यह संकल्प लीजिए कि उल्टा बुद्धि अथवा विषय-कामना की चपेट में आ कर कामज संतान का जन्मदान नहीं करेंगे, न ही जाति और देश का दुर्दशा का कारण बनेंगे। आज पुनः चाणक्य का उस महान नीतिवाक्य का याद कीजिए—

''एकश्चन्द्र स्तमोहन्ति न च तारागणैरपि।''

अर्थात एक चन्द्र ही अंधेरा दूर करता, अनगिनत तारें वह नहीं कर पाते। उसी तरह एक सुपुत्र जो बंश गौरव बढ़ाता है सौ कुपुत्र वह कर नहीं पाते। साथीओं आज का Birth Control या जन्म-नियंत्रण का युग में आप भारत का प्राचीन परम्परा का याद करें। धृतराष्ट्र और गांधारी के सौ पुत्र कुलांगार होने के हेतु अपने बंश, जाति और देश का सर्वनाश का भी कारण रहे। दूसरी तरफ राजा पाण्डु की थी दो पत्नी। कुंती और माद्री से जो पंचपाण्डव जन्मे वे थे कुल-शील के बारे प्रशंसित, शौर्य-वीर्य के लिए विख्यात और धर्मराष्ट्र का संस्थापक। इसके अलावा, ज्योतिषशास्त्र कहता है ''बहु पुत्रात् भवेत दुःखम्'', अर्थात बहु पुत्र से दुःख ही बढ़ता है। इसी युगमें श्रीरामकृष्ण परमहंस, आचार्य प्रणवानन्द आदि महापुरुष भी अपने गृही शिश्यों को कहते थे—''दो-तीन बच्चे जन्म लेने के बाद पतिपत्नी भाईबहन के तरह जीवन बीतेंगे।'' इसी निर्देश का पालन करने से जन्म नियंत्रण के विविध कृत्रिम उपाय लेना नहीं पड़ता।

भाईओं और वहनों, न केवल संतान का जन्म देना, पत्नी का गर्भ रहते समय पतिपत्नी को किस प्रकार नीति नियमों का पालन करना चाहिए, हमारे शास्त्र में उसी का भी निर्देश है। पत्नी गर्भवती होने पर संयम का व्रत लेकर पति और पत्नी अलग रहना होता। इसके अलावा, जिस नारी सुसंतान चाहती उस समय उनको सदाचारी एवं नीतिमय जीवन के खातिर शास्त्रादि का आलोचना करना तथा धर्मचारिणी रहना चाहिए, क्योंकि वह जिस तरह का जीवन काटती गर्भस्थ संतान पर उसका प्रतिक्रिया होता। महाभारत का पाठ से हम जान पाते कि अभिमन्यु जब माता सुभद्रा के गर्भ में थे उस समय माता के सामने युद्ध का आलोचना चल रहा था। चक्रव्यूह (फौजी घेरा) में किस तरह दाखिल हुया जाता इतना सुनने के बाद सुभद्रा को नींद आई, और उससे निकलने का उपाय वह सुन नहीं पाई। फलतः सुभद्रा के गर्भमें रहे अभिमन्यु केवल फौजी घेरे में घूसने का उपाय ही जान पाया, निकलने का उपाय नहीं सीख सका। इससे हम समझ जाते, गर्भकाल में माता का क्रिया-करम का प्रभाव संतान पर कितना अहम होता है। वाकई इसी कारण हिन्दु शास्त्र का निर्देश है कि गर्भवती सब प्रकार के संयम एवं सदाचार का पालन अवश्य ही करें। हम जानते हैं कि महावीर सैनिक सम्राट नेपोलियन वोनापार्ट की माता जब नेपोलियन उनके पेट में थे, शौर्यवीर्य की कहानी सुनना और शुरतामय युद्ध चित्र देखना पसंद करती थी। उनका उस समय का मनोभाव का अपने पुत्र पर क्या प्रभाव डाला वह नेपोलियन का जीवन की शौर्य्यवीर्यभरी घटनाओं पर नजर डालने से विशेष रूप से समझा जाता है। आदर्श संतानकामी माताओंको यह भी याद रखना चाहिए कि पिता के एक बुंद मगर माता के बहुत खून से एक संतान का शरीर बनता है। इतना ही नहीं, उसके जन्म के बाद संतान का पालन-पोषण में माता

ही ज्यादा यत्न लेती। इसी वजह से हिन्दुशास्त्र में संतान-संतति के लिए पिता से माता हाजारगुणा अधिक श्रेष्ठ और पुज्य माना गया।

साथीओं, संतान का पालन पर नीतिशास्त्रकार चाणक्य ने जो महान् उपदेश दी है वह इसी लिहाज में विशेषकर याद करना चाहिए। आदर्श संतानकामी मातापिताओं को उन्हींने कहा :

"लालयेत् पंचवर्षाणि दश वर्षाणि ताड़येत्

प्राप्ते तु षोड़श वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्।"

अर्थात, पाँच वर्ष तक संतान को विशेष यत्न के साथ पालन-पोषण कीजिए, पाँच से पन्दह वर्ष तक उस पर चौकसी बरतिए ताकि वह गलत राह न ले। बिज्ञान कहता है, उस समय संतान का मन और बुद्धि नाजुक और भावुक होता। उस समय वह जो भी देखता या सुनता और जिस संगत तथा पर्यावरण में रहता उससे बड़ा ही प्रभावित होता। उसी उम्र को अंग्रेजी में impressionable age कहा जाता है। इसी लिए संतान का किशोर अवस्था में उसका पालन-पोषण का बारे मातापिता को अधिक सावधानी बरतना पड़ती। अतः जब वह सोलह साल का हो जाता मातापिता का उससे मित्र जैसे बरताव होना चाहिए। क्योंकि उसी उम्र में उससे कर्कश और रूढ़ बरतताव से युवा संतान कभी कभी उच्छृङखल और अबाध्य हो जाता। बिगड़ गये संतान खुदकशी भी कर लेता। तभी नीतिशास्त्र ने युवा सन्तान से मित्रवत बरताव का सलाह दी है।

साथीओं, हम शास्त्रीय निर्देश व अनुशासन पर थोड़ा-बहुत आलोचनाकर चुके हैं। तो आइये, वर्तमान युग में हम वास्तव में क्या देखते हैं उस पर भी आलोचना करते हैं। फिलहाल विशेष खानदानी घरो में पति-पत्नी विवाहित जीवन को आमोद-प्रमोद का अवसर ज्ञान करते हैं। आमोद-प्रमोद में संतान-संतति अड़चन होती। इसी कारण जहाँ तक मुमकीन हो वे संतान का जन्म पसंद नहीं करते। तब भी अगर बद नसीव का नतीजा संतान जन्म लेता, उसकी जिम्मेवारी नौकर-नौकरणी पर छोड़ कर वे चैन की सांस लेते हैं। यह भी सुना जाता है कि बच्चे को मातृस्तन्य पान कराने से शारीरिक खुबसुरती घटने के डर के मारे आधुनिक माताओं स्तन्यदान पसंद नहीं करतीं। बोतल का दुध से ही बच्चा का भूख मिटाया जाता। इससे एक तरफ तो वह माता का स्नेहादर से दूर रहा जाता, दूसरी तरफ निम्नरूचि रखनेवाले नौकर-नौकरणी के हाथों पालन का कारण वह उनके बूरी आदतों के आदी होता है।

साथीओं, यह रहा खानदानी घरो में शिशु पालन का चित्र। अब देखा जाए मध्यवित्त घरोमें किस तरह संतान का पालन-पोषण होता है। आपलोग जानते हैं कि इन घरोमें प्रायशः दादा-दादी, फूफी, मौसी आदि के गोद में शिशु का पालन होता, एवं दादा-दादी इत्यादि परिजन बच्चेको आदर के नाम पर कुछ ज्यादा ही ढीलापन देते जो हितकारी नहीं होता। लिहाजा एक कहानी सुनाता हुँ जो है दृष्टांत स्वरूप है। बेणी नाम का एक लड़का मौसी के आदर और ढीलापन के कारण धीरे एक पक्का चोर बना। एक दिन वह किसी घर से सोने का जेवर चोरी करते समय मालिक मकान के हाथों पकड़ गया। वैणी पुलिस को सुपुर्द किए गए और न्यायालय उसे दोषी पाया। जेल चलने से पूर्व वह पुलिस से मिनती की—मैं मौसी

से मिलकर उसको एक बात कहना चाहता हुँ, उसके बाद मैं मेरी सजा काटुंगा। पुलिस मान गई। जब बेणी मौसीके आमने-सामने हए तो वह कहा—''मौसी, इसी अपराध के लिए उत्तरदायी मैं नही; तुम। क्योंकि अतीत में जब मैं स्कुल के लड़कों के किताबें, पेंसिल या घड़ी चुरा कर घर लाता तुम डाँटने की जगह मुझे बढ़ावा देती। तो आज मैं मेरा पाप का दण्ड भुगतने चलने से पहले मेरे पापों को बढ़ावादेनेवाली को दण्ड दुंगा।'' इतना कहकर उसने मौसी का एक कान दाँत से काट दिया और उसके बाद पुलिस के साथ चला अपना दण्ड भुगतने।

भाईओं और बहनों! उपरोक्त आलेचना से हम जान पाते कि एक तरफ खानदानी घरोमें अत्यधिक लापरवाही और लगन का अभाव का कारण शिशु का भविस्य नष्ट होता, दूसरी तरफ मध्यवित्त घरो में परिजनों के बढ़ावा के हेतु संतान का चरित्र कलुषित होता। तो आइए देखते हैं अति दरिद्र और निम्नवर्ग के घरो में संतान का पालन किस तरह होता।

आप जानते हैं कि दरिद्र तथा अशिक्षित घरो में एक तो संतान की संख्या अधिक होती, दूसरी उनके पालन-पोषण की समस्या भी बड़ी होती। इने घरो में सबके लिए दानापानी जुटाना एक इतना पेचीदा प्रश्न होता कि ज्यादातर घर में माँ-बाप दोनो को ही मजदुरी करने बाहर जाना पड़ता। तो उसी स्थिति में यह सीघा ही समझा जाता कि संतान-संतति पर जरूरी नजर रखना या उनपर ध्यान देना मुमकीन नहीं होता। कभी ऐसा भी देखा जाता कि शिशु को अफीम द्वारा सुलाकर मातापिता दोनों ही काम पर चले जाते। थोड़े बड़े लड़के लड़कियाँ घर के बाहर चले आते और साथीओं से समय काटते। यह तो कहने की भी जरूरत नहीं कि एसा मद्दा पड़ोस और संसर्ग से बच्चों के भविस्य खतरे में होते।

साथीओं, फिलहाल भारत के खानदानी, मध्यवित्त एवं दरिद्र घरो में संतान पालन के जो चित्र मैने प्रस्तुत किया क्या वह वास्तव नहीं है? और आधुनिक समाज का जब यह हाल हो तो उसमें आदर्श संतान-संतति की संख्या विरल होगा क्या यही स्वाभाबिक नहीं?

साथीओं दानापानी मुहैया करने का चक्कर और चीजों की चढ़ती कीम्मत की चपेट में आ कर प्रायश: मध्यवित्त परिवार के मातापिता दोनों ही नौकरी लेने को मजबूर होते। यह तो साफ है कि उसी स्थिति में वे संतान पालन की जिम्मेदारी पूरी तरह निभा नहीं सकते। फिरभी मैं यह कहुँ कि संतान-संतति के जन्म के साथ ही मातापिता के सर पर एक विशेष जिम्मेवारी पड़ती और वह निभाना बड़ा ही जरूरी है। यह भी अनेक जगह देखा जाता कि पति की कमाई काफी होते हुए भी पत्नी शौक के मारे नौकरी लेना चाहती। वे सोचती कि इतनी मेहनत के जरिए हमने जो उच्च शिक्षा प्राप्त की है क्या वह सिर्फ रसोइया बनने और बच्चों के टट्टी-पेशाब साफ करने तक ही काम आएगा? बेहतर तो यही होगा कि हम दोनों कमाई करुं जिससे दो-चार नोकर-नौकराणी रखूं। दोनों की कमाई से जीवन अधिकतर स्वच्छन्द होगा, खर्च करने में चिंता न होगी।

साथीओं हम उनके तर्क तनिक भी हितकर या शोभन नहीं मानते हैं। हमारे माता ओर बहनों को यह भूलना सही नहीं कि गैरजरूरी नौकरी से पति की सेवा और संतान का उपयुक्त प्रतिपालन ज्यादा महत्वपूर्ण काम होता। आदर्श पत्नी और माता का कर्तब्य एवं जिम्मेदारी

संभालने में ही नारी जीवन का गहरा सार्थकता रहती, एवं उस पर ध्यान न देना वाजिब नहीं है। जहाँ परिवार प्रतिपालन के लिए एक पत्नीको नौकरी करना पड़ती वह अगर मौके पर स्वधर्म पालन का भरसक कोशिश करती तो उसका जीवन और भी सुंदर और शोभन होगा। यानी नौकर पर पूरी जिम्मेदारी छोड़ने की जगह मौके पर घर पर ध्यान दे।

साथीओं, इसी संदर्भ में आपको मैं यह याद करवाना चाहता हुँ कि गृही जीवन में सुख और आनन्द ज्यादातर उपलव्ध होता पतिपत्नी के आदर्शनिष्ठ जीवन से। भगवान् रामचन्द्र और सीतादेवी के दाम्पत्य जीवन का जिस आदर्श हम जानते हैं वह याद क्या जाए। दुर्वृत्त दशानन द्वारा सीतादेवी चोरी हो गई। रामचन्द्र पत्नी विरह से बड़ा ही बेचैन हो गए। शोकसे व्याकुल और ध्वस्त दशा देख कर लक्ष्मण ने उसे कहा—"हे आर्य, तुम इतना शोकातुर होने से लोग तुम पर उपहास कर कहेंगे—रामचन्द्र है स्त्रैण स्वभाव का। सीता पर उसका प्रेम है केवल मोह तथा आसक्तियुक्त। तो तुम शोक-विलाप त्याग कर अपने को सँामालो।" जवाब में रामचन्द्र ने कहा—"भाई लक्ष्मण, तुम नहीं जानते, सीता न केवल मेरी पत्नी थी, वह थी मेरी जननी, मंत्री, सखी तथा सेविका भी।" राम का इस जवाब पर लक्ष्मण ने फिर कहा—"बड़ा भाई, तुम किस तरह अपने पत्नी को जननी और मंत्री भी मानते हो?" जवाब में रामचन्द्र ने कहा—"सीता जब बड़े यतन से स्वादिष्ट खाना और सब्जी पका कर मुझे परोसती, लगता था कि वह न केवल मेरी पत्नी रही वह साक्षात अण्णपूर्णा रूपमें मेरी सेवा करती थी। आफत में जब मैं उधेड़बुन में रहता वह मुझे राह दिखाती। मैं जानता वह मेरा परम हितकारी तथा सही सलाह देनेवाला मंत्री भी है। और जब मौके पर हम दोनों मिलकर शास्त्र या किसी और विषय पर आलोचना करते थे तो उसीको मैं प्रियतमा सखी मानता। जब थका हालत में मैं घर लौटता और वह मेरी थकान दूर करने में लगती तो वह सेवकि रूप में होती। हाँ, जब हम दोनों को संतानलाभ की इच्छा जागृत होती तब वह मेरी पत्नी थी।"

साथीओं, भगवान् श्रीरामचन्द्र का उपरोक्त कथन प्रमानित करता, भारतीय दाम्पत्य जीवन का सही सम्पर्क कितना उन्नत, महान् और गौरवमय होता। केवल रामचन्द्र की उक्ति ही नहीं, ऋषिप्रवर अत्रि का आश्रम में रहते समय अत्रि की पत्नीने सीतासे पूछा—"सखी, यह दु:सह बनवास का कष्ट भुगतने से क्या यही बेहतर नहीं था कि तुम चौदह वर्ष अपने मैके या ससुराल में बीता देती?" सीता का जवाब भी उस लिहाज में दिलचस्प रहा—"सखी, क्या तुम मेरा सतीधर्म पालन का परीक्षा लेती? मैं मैके या ससुराल का आराम लुंगी और मेरे पति शेर-भालू से भरे जंगल में अनादर और कष्ट से दिन काटेगा, वह मैं किस तरह मानुंगी? क्या आर्य नारी का यही कर्तव्य नहीं कि वह सुख-दुख में पति के साथ रहेगी? तुम मेरे दुख की फिक्र क्यों करती? पति के पास रहकर मैं यह पाता हुँ कि मैं मैके या ससुराल में ही हुँ। मैं उसे केवल पतिरूप में न देखती, उसमें अपने मातापिता को भी पाती हुँ। अर्थात मैं पिता का शासन और माता का आदर भी पाती। इसके अलावा लक्षण न केवल मेरा देवर है, उसे मैं मेरे छोटे भाई और मेरे लड़के के रूप में भी देखती। वस्तुत:

पति के साथ रह कर मुझे मैके और ससुराल के सारे सुख मिल जाता। तो यह जंगल मेरे लिए मंगल ही है।''

साथीओं, रामचन्द्र और सीतादेवी के उस हृदयस्पर्शी कथन में क्या आदर्श भारतीय दाम्पत्य जीवन का चित्र ही नजर नहीं आता? उसी आदर्श के मोताबिक अगर वर्तमान का दाम्पत्यजीवन ढाला जाए तो आपके घरो में प्रकृत सुख एवं संपदा फिर आएगी।

इसी संदर्भ में सबको याद रखना चाहिए—Marriage is not a passport for free and lavish enjoyment। अर्थात विवाह किसी बेरोक तथा असंयत इंद्रिय भोग का आज्ञापत्र नहीं होता। वह है दंपति का आदर्श जीवन बनाने का एक साधन। हमारे गृही भाईओं और बहिनोंको जानना चाहिए कि दापत्य जीवन केवल प्यार-मोहब्बत के ऊपर नहीं बनता। आपसी श्रद्धा, विश्वास और सहयोगिता पर वह प्रतिष्ठित है। अर्थात श्रद्धा जिस प्यार-मोहब्बत का आधार न हो, वह होता मोह और लालसा से भरे काम।

साथीओं, अब हिन्दु विवाह का दूसरा उद्देश्य पर नजर दी जाए। आलोच्य विषय है—सस्त्रीक धर्मभाचरेत्'। यानी पति-पत्नी आपस में धर्माचरण में सहायता करेंगे। मनस्तत्व की नजर से आत्मोन्नति की चोटी पुहँचने से पहले तक नर और नारी दोनों का जीवन असंपूर्ण रहता, एवं इसी वजह प्रत्येक नर और नारी हर कदम पर एक दूसरे पर भरोसा करता है। पति में कई गुण होते जो पत्नी में नहीं होते। उसी तरह स्त्री में जो गुण होते वह पति में नहीं होते। इसी कारण उनमें आपसी सहायता अति आवश्यक होता। सहयोग और पारस्परिक निकटता के कारण एक के गुण दूसरे में आ जाते, दूसरा एक की कमी या त्रुटी दूर होती। जब दोनों जीवन संपूर्ण हो उठता तभी हम कह सकते कि उन्होने दांपत्य जीवन के कर्तव्य एवं जिम्मेवारी ठीक से निभाया हैं। इसी कारण लोग कहते, पत्नी होती पति की अर्द्धांगिणी तथा सहधर्मिणी।

साथिओं, अब अपने को पूछिए, क्या दांपत्य जीवन के सारे कर्तव्य आपने ऊपर की दृष्टिकोण के मोताबिक पूरा किये है? हिन्दुशास्त्र का निर्देश है, गृही अगर पत्नी को साथ लेकर पूजा इत्यादि, तीर्थपर्यटन न करता तो उसका लाभ नहीं पाता। विवाह अनुष्ठान में पतिपत्नी मंत्र उच्चारण के साथ एक दूसरे को सहायता देने का जो वचनवद्ध होते सारे जीवन उस वचन पूरा करके वे दांपत्यजीवन के सारे कर्तब्य करते। उस कर्तब्य पूरा करने में ढीलापन या लापरवाही गृहीजीवन को व्यर्थ कर देते।

साथीओं, इसी प्रसंग में महात्मा गांधीजी के दांपत्य जीवन के कुछेक घटना विशेषरूप से उल्लेखयोग्य हैं। मातापिता की इच्छा के अनुसार गांधीजी किशोर अवस्था में ही विवाह करने पर मजबूर हुए थे। किशोर अवस्था में विवाह का उनके मन और शरीर पर जो बूरा असर हुया बादमें उन्होंने गहरा दुख के साथ खुल्लम-खुल्ला ही उस पर कहा था। वृद्धावस्था उनके पिता मृत्यु-शय्या में थे, तब उनकी सेवा भूलकर गांधीजी पासके कमरे में पत्नी के साथ संभोग में लगे रहे। इसी अवसर में पिता का देहांत होने पर, गांधीजी कितना दुखी हुए थे वह भी उन्होंने कहा। खेदसे उन्होंने पत्नी को कहा—''अब हम हैं चार संतान के मातापिता।

तो आज से हमारे संभोग जीवन खत्म हो जाए। हम दोनों भाई-बहन का जीवन लेंगे और पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत लेकर देश और भगवान् की सेवामें लगेंगे। पत्नी कस्तुरीबाई भी सानन्द यह प्रस्ताव मान ली। इतना वचनवद्ध होने के बावजूद पुराना आदत से गांधीजी में कभी संभोगलिप्सा आ जाती तो कस्तुरीबाई उन पर किस तरह बरस पड़ती, वह स्वीकार करने में गांधीजी नहीं हिचकिचाये। इसका प्रायश: उल्लेख करते हुए गांधीजी कहते थे—''बजाय इसके कि मुझे महात्मा कहा जाय मेरी पत्नी को महीयसी उपाधि से आभुषित किया जाता तो बेहतर रहता, क्योंकि उसकी सहयोग से ही मैं इसी शक्ति और सफलता लाभ किया। ब्रह्मचर्य पालन का संकल्प लेने के बाद कभी संभोगवासना के मारे उसके पास जाता तो वह मुझे कहती—'तुम ही ने संयम व्रत पालन का इरादा क्यिा और वह मैने मान ली थी। अब मैं तुम्हें उस संकल्प तोड़ने नहीं दूंगी'। वस्तुत: उसकी सहायता से ही मैं संयम का संकल्प रख सका, मेरे बूते पर नहीं।''

साथीओं, गांधीजी हमारा युग का है। किशोर अवस्था में उनमें अनेक दोष और दुर्वलता थी। बाल्यविवाह की वजह अनको अनेक नुकसान पहुँचा। मगर इस युग के नरनारी जानते हैं, पत्नी की सहायता से वह विवाहित जीवन में कितना लाभ पाए और देश की कितनी सेवा की। आपलोगोंको कहूँ कि, उनका दृष्टांत सामने रख कर आप भी सजग और सचेत हों। अपने पत्नी को देवी तथा जननी रूप में पुजा करके ठाकुर श्रीरामकृष्ण जीतकाम हुए थे। मैं मानता हूँ कि आपलोगों में से ज्यादातर ही उस दांपत्य जीवन का उज्ज्वल आदर्श अपना नहीं सकते। तबभी गांधीजी, विजयकृष्ण गोस्वांमीजी, नाग महाशय आदि के दांपत्य जीवन से आपलोग बहुत कुछ सीख सकते और प्रेरणा भी पा सकते हैं।

साथीओं शायद आपलोग में से बहुत लोग जानते हैं कि साधु नाग महाशय थे श्रीरामकृष्ण का कृपाधन्य एक गृही शिस्य। वह अपने गुरु का असाधारण दांपत्य जीवन का आदर्श अपनाने का निश्चय क्यिा। शुरू में संयम पालन के बारे में वह पत्नी की सहायता नहीं पाया और घर के नजदीक एक पेड़ पर रात काटने का मन क्यिा। इससे उसकी पत्नी गहरा चिंतित हुई और एक रात वह पेड़तले जाकर पति को बिनति की—''मेरे डर से पेड़ पर रात काटने का कोई दरकार नहीं। निद्रालू अवस्था में पेड़ से गिर कर तुमको भारी चोट मिल सकता। मैं वचन देती हूँ—कभी भी तुम्हारी भोग-वासना नहीं उकसाऊंगी। तुम कमरे में ही अलग विस्तर पर सोओगे।'' पत्नी का आश्वासन पा कर नाग महाशय उसी रात से अलग विस्तर पर सोते थे और संयम व्रत पूरा किए।

भाईओं और बहिनों, साधु नाग महाशय और उनकी पत्नी की सहयोगिता से आपलोग बुहत कुछ सीख सकते हैं। इसी महापुरुष के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने एक समय कहा था—''मैने सारी दुनिया पर्यटन की है, मगर कहीं भी साधु नाग महाशय जैसे आदर्श साधु जीवन नहीं देखा।'' महात्मा विजयकृष्ण एक समय इतना दुबला दिल थे कि लहौर नगर में ब्राह्म धर्म का प्रचार में लगे रहने के दौरान एक दिन धर्मसभा में एक सुंदरी युवती का रूप उसको इतना मोह लिया कि वह भाषण बंद कर युवती के पीछे चला। अपने रक्षा के

लिए युवती एक मकान में घुस गयी तब वह कुछ होश में आये। मनका दुबलापन के लिए वह इतना दुखी हुया कि रावी नदीं में डूब मरने चला। लेकिन राह में अचानक एक दैववाणी सुन कर वह आत्महत्या का इरादा त्याग दिया और बंगाल में वापस लौटा। बाद में सदगुरु का आश्रय पा कर ढाका शाहर के पास गेंडरिया नाम एक जगह में कुटिया बना कर उसीमें तपस्या करने लगा। कुटिया के भीरत एक गुफा में वह जो आसन बनाया उस पर केवल बैठ कर साधन ही करना संभव था। उसी आसन पर नींद विहीन साधना के माध्यम योगसिद्धि की चोटी पहुँच कर वह गृहीओंके सामने यह दृष्टांत हाजिर किया कि जब वह जैसे असंयमी तथा दुर्वलचित्त मनुष्य संयम-साधना के जरिए सिद्धिलाभ किया तो दूसरे के लिए भी वैसा करना संभव है।

साथीओं, एक आध गृही साधक के जीवन में स्त्री की सहायता तो मिली ही नहीं, कुछ उल्टी चीज ही मिली। सब जानते हैं महात्मा तुलसीदास अपने पत्नी का रूपसे मोहित होकर कितना होश खोये हुए थे। बाद में एक दिन पत्नी की कड़ी फटकार से वह किस तरह होश में आया और आध्यात्मिक साधना में चरम सिद्धिलाभ किया, यह भी एक इतिहास है। साधु तुकाराम और महात्मा टलष्टय के जीवन में भी परिवर्तन लाया था अपने पत्नी का दुर्व्यवहार। तो यह भी साफ है कि अगर किसी पत्नी आध्यात्मिक साधना में पतिको सहयोग देने की बजाय दुर्व्यवहार देती तबभी मोहांध पतिओं के ज्ञानचक्षु खुल जाता।

साथीओं, इसी संदर्भ में मैं हमारे समय का एक और आदर्श गृही का दृष्टांत सामने रखुंगा जिसने गृही जीवन के सारे कर्तव्य और जिम्मेदारी पूरा अनासक्त एवं निष्काम रूप में निभा कर एक अमर कीर्ति प्राप्त की हैं। वह गृही साधक थे रामतनु लाहिड़ी जो न केवल उन्नीसवी सदी का बंगाल का एक महान शिक्षाविद तथा संस्कृतिक जगत का उज्ज्वल नक्षत्र थे, साथ ही ब्राह्म समाज का एक उत्साही धर्माचार्य भी थे। उनका एक पुत्र मेडिकल कालिज का सर्वोच्च इम्तहान बड़ा कामयाबी के साथ पास करने के कुछेक दिनोमें अचानक बीमार से मर गया। उसी दिन रामतनु बाबू के घरमें ब्राह्म-समाज का हफता का अधिवेशन होना था। इतने में महात्मा अश्विनीकुमार दत्त और उनके साथीओं के झुण्ड अधिवेशन में भाग लेने वहाँ पहुँचे। जिस कमरे में अधिवेशन बैठना था उसका दरवाजा बंद था। अश्विनीबाबू दरवाजा खोलने गये तो रामतनु उसको रोका—''उस कमरे में मेरे पुत्र की लाश रखी है। आइए, हम एक और कमरे में अधिवेशन का काम करते हैं।'' रामतनु से यह शोक संवाद सुन कर अश्विनी अचरज हुए और कहे—''आप क्या कहते हैं? आपके पुत्र की लाश घरमें पड़ी रहेगी और हम अधिवेशन करने बैठेंगे?'' जवाब में रामतनु ने कहा—''हमारे कतव्य कर्म बंद रखने का क्या लाभ होगा? जिसने मुझे पुत्र दान किया था उसीने वापस ले ली है, तो उस पर हाय हाय करने का फायदा? पिता के रूप में जो भी करना होता सभी मैने पूरा की है, उसमें एक भी त्रुटी नहीं हुई है। गीता भी तो कहती है—पुराना त्याग कर मनुष्य जिस तरह नया कपड़ा पहनता है, देही भी पुराणा देह छोड़ कर नया देह ले लेता। इसमें शोक-विलाप करने का कुछ भी नहीं है।'' रामतनु का अध्यात्म जीवन की उन्नत अवस्था देख कर साथीओं चमतकृत हुए और उस पर श्रद्धा भी बहुत बढ़ गया। अधिवेशन के बाद

जब लोग मृतदेह सत्कार का जुगाड़ करने लगे, तो शोक-विलाप करती पत्नी को रामतनु ने कहा—"इसके पहले हमारे दो पुत्री के देहांत हो चुका, पर उससे मैं दुखी नहीं हुया। अब तुम्हें इतनी शोकाकुल देख कर मैं चिंतित भी हूँ दुखी भी हूँ। मेरा दुख का कारण यह है कि मेरी पत्नी के रूप में मेरे साथ इतने दिनों रहने के बावजूद तुमने कुछभी ज्ञान लाभ नहीं की, और एक ज्ञानहीन मूढ़ जैसे रोती हो। तुम यह नहीं समझती कि एक तो शोक-विलाप से अपने पुत्र की आत्मा का कल्याण की राह में तुम अड़चन डालती, दूसरा उस करुणामय परम पिता पर अविश्वास और अश्रद्धा का परिचय देती।"

साथीओं, महाभक्त श्रीनिवास के जीवन की अनुरूप घटना आप जानते हैं। वह भी मृत पुत्र की लाश कपड़े से ढककर कमरा का एक कोणा में रख दिया और साथीओं के साथ घर के अंगन में कीर्तन करने लगा। अवश्य आज से लगभग पाँच सौ साल पीछे वह घटना हुई थी, एवं वर्तमान नास्तिकता और अविश्वास के युग में ऐसा विरल ही होगा। फिरभी इसी घटना से गृही भाईओं और वहिनों को समझना चाहिए कि, पारिवारिक जीवन के हजारों काम और जिम्मेदारी संभालने के बीच भी अनासक्त एवं निष्काम भाव बनाये रखना असंभव नहीं है।

साथीओं, केवल दांपत्य जीवन की जिम्मेदारी पूरी निभाने से ही गृही जीवन का आदर्श पूर्ण नहीं होता। हिन्दु का परिवार एक पीपल का पेड़ जैसा बड़ा और फैला हुया होता है। उसमें पुत्र-कन्या, मातापिता, चाचा-चाची भी गिने जाते, मानो वह एक बड़ा समवाय गोष्ठी हो। इन दिनों हम इस संयुक्त परिवार को एक मध्ययुग का कुसंस्कार कहने लगे हैं। पाश्चात्य की तरह हम भी कहने लगे हैं कि मातापिता से रिश्ता विवाह के पहले तक सीमित हो, विवाह के बाद वह क्यों? क्योंकि पाश्चात्य में कहा जाता है—Parents are parents till the sons and daughters are married.

साथीओं, पतिपत्नी और एक-दो लड़का-लड़की को लेकर जिस सुखी परिवार की कल्पना हम आज करने लगे हैं भारतीय आर्य नजर से वह है संकीर्णता और स्वार्थपरता का महज नामांतर। इसी युग की एक महिला कवि ने लिखी हैं :

उपने को लेकर व्यस्त रहने
दुनिया में आया कोई नहीं,
सबके लिए हम सब है,
प्रत्येक के लिए हम प्रत्येक ही।

वस्तुत: सबको खिलाकर खाना, सबको पहनाकर पहनना, सबको सुख़ी करके सुखी होना—इसी प्रकार का भावना और कोशिश ही है भारतीय जीवन का उच्चतम आदर्श।

साथीओं, हम जो आज दुर्दिन भुगतते हैं उसका कारण है, हम भूलने लगे हैं कि लेने से कहीं ज्यादा आनन्द देने में होता। हाँ, यह बात न मानने का उपाय नहीं कि आर्थिक अभाव हेतु बड़े परिवार के सबको लेकर एकसाथ बसना आजकल मुश्किल है। तबभी यह भूलना वाजिब नहीं कि आजीबिका के हेतु दूर जगह में बसने पर मजबूर होते हुए भी बीच बीच में त्यौहार इत्यादि अवसर पर सब एक जगह जमा होना जरुही है। अर्थात आजीबिका

के हेतु हमारे घर अलग होते हुए भी हमारे मन में दूरी न समा पाए। इस पर इसी युग का कवि कहा है :

घर न तोड़ो—यही मेरी बिनति,
हिन्दुस्तान के हिन्दु संतान-संतति।

** ** **

साथीओं, इसी संदर्भ पर अंत में और दो-चार बातें कह लेते हैं। गृही जीवनको सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिए सबसे पहले यह याद रखना होगा कि हमारा परिवार केवल परिबार ही नहीं होता। वह एक आश्रम या एक मन्दिर ही होता। अर्थात हमको उचित है कि जिस घर में हम वसते हैं उसे एक आश्रम या एक मन्दिर में रूपांतरित कर दूं। उस तरह का पवित्र वातावरण में जीवन वआसानी आदर्शनिष्ठ हो जाएगा। इस पर हमारे सङ्घ का प्राणपुरुष आचार्य प्रणवानन्दजी कहते थे—Atmosphere is the greatest teacher. अर्थात पर्यावरण ही होता सबसे बड़ा शिक्षक। उसी प्रकार का पर्यावरण रचित करने के लिए घर में गृहदेवता का एक भव्य आसन होना चाहिए। दक्षिण भारत पर्यटन करते समय जो मैने देखा वह मैं इसी लिहाज में बताता हूँ। वहाँ के गृहिणीओं खूब भोर में घरके सामने इस तरह आलिम्पन करती कि उस मंगलचिन्ह न केवल घरके लोग, राहगीरों के मन में भी पवित्र भाव लाता है। घरके प्रवेशद्वार आम गाछके पत्तो से सजाया जाता। घरकी दीवारों पर देवदेवी तथा महापुरुषों के पवित्र भावोद्दीपक चित्र होते। घरके भीरत गृहदेवता का भव्य आसन होता, जिस पर गीता, उपनिषद, भागवत जैसी किताबें रखी होती। आज हर हिन्दु घर में अगर उस तरह का पर्यावरण बने तो हमारे रोजाना जीवन अधिकतर उन्नत और देवमय होने में मदत देगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

साथीओं, हमारे रूढ़िवादी हिन्दु घरो में लक्ष्मीदेवी का आसन बनाये रखने का एक पुराना रिवाज था। पाश्चात्य की शिक्षा लिए माताओं और बहिनों उस रिवाज को ध्यान देना दिन व दिन भूलने चली हैं। बैठक की परिपाटी और विलास-वैभवमय सजावट उनको ज्यादा मोहता है। आधुनिक घरों की दीवार पर देवदेवीओंके चित्र की जगह चित्रतारकाओं की आधा नंगी तसवीरें होतीं। यह तो कहना ही बाहुल्य है कि यह सब भारतीय आदर्श के खिलाफ है। ऐसे भी लोग हैं जो घरमें लक्ष्मीदेवी का आसन रखना बुढ़ी दादी-फुफी इत्यादि के काम गिनते। फिर, जिस घर में बुढ़ियाँ रहते नहों तो लक्ष्मीदेवी का आसन वहाँ वाहियत ही तो होता।

साथीओं, यह भूलने से नहीं चलेगा कि पाँचसो साल की इसलामी सियासत के दौरान जब हमारे पुरुषों हिन्दु रीत-रिवाज भूल कर भ्रष्टाचारी बनने चले थे, और उसके वाद अंग्रेजी हुकूमत में पाश्चात्य शिक्षा द्वारा प्रभावित होकर जब वे हिन्दु रीत-रिवाज से नाता तोड़ने चले थे, तब हमारे गृहलक्ष्मीओं ने ही भक्ति, निष्ठा और सदाचार द्वारा समाज की रक्षा की थी। पर आजका पाश्चात्य भावादर्शसे प्रभावित हमारे माता-बहिनों परम्परागत शिक्षा एवं स्वधर्म दूर फेंकने लगी हैं। जब समाज का यह हाल हो तब हमारी दुर्दशा काटती किस उपाय से, यही है इसी युग की सबसे बड़ी समस्या।

अंत में मैं यह कहुँ, याद रखिए कि हमारे हर परिवार पर एक महान् गुरु का आशीर्वाद है। व्यास, वशिष्ट, वाल्मिकी, भृगु, पराशर आदि ऋषिओंके नाम से हमारे गोत्र जाना जाता है। पर हम भूल जाते हैं कि जिन प्राचीन ऋषिओंकी तपस्या के वारिस हैं हम, उनके आशीर्वाद आज भी मिलना जरुरी है। हमारे शास्त्र कहता हैं:

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वर।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरबे नमः।।

साथीओं, कैलास का शिव, बैकुन्ठ का हरि हमारी स्थूलदृष्टि के बाहर रहते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण जैसे अवतारों के याद भी साफ नहीं है। तो इसीलिए देहधारी साक्षात गुरु से नजदिकी सम्पर्क आवश्यक है। इसी वजह से कहा जाता है—मोक्षमूलं गुरुकृपा। यानी गुरु की कृपा बिना मोक्ष नहीं मिलता। लिहाजा यह भी जानना चाहिए कि कुलगरु की प्रथा आज लगभग खत्म हो चुकी है। कुलगुरु नाम के जिन लोग आज भी समाज में हैं वे भी तपस्या द्वारा अपने जीवन को पवित्र नहीं किए हैं। खर्च जुटाने का साधन के रूप में वे अपने बाप-दादा के शिस्यकुलको शिस्य कर लेते हैं।

साथीओं, यह तो सीधी बात है कि एक अन्धा दूसरे को राह नहीं दीखा सकता। अध्यात्म जगत का ज्ञान जिसको है नहीं, जिसका ज्ञानचक्षु तपस्या के जरिए नहीं खुला, जिसके जीवन मे शांति नहीं आई, वह दूसरों को मार्ग किस तरह दीखाएगा? तो क्या इसी युग में प्रकृत ज्ञानी तथा सत्यद्रष्टा गुरु बिलकूल है ही नहीं? बेशक नहीं। हमारा भारत में अन्नवस्त्र का दुर्भिक्ष कभी कभी होता है, मगर महापुरुष का अभाव कभी नहीं हुआ, और वह हो नहीं सकता। इसी युग में भी हमारे बीच अनेक सत्यद्रष्टा, ज्ञानी महापुरुष आविर्भूत होते हैं, जो होते जीवोद्धार के महान ब्रत में कृतसंकल्प।

भारत सेवाश्रम संघ का प्रवर्तक तथा प्रतिष्ठाता युगाचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज न केवल एक गुट सर्वत्यागी सन्यासीओं के गुरु ही रहे, वह थे लाखों गृही संतानों के आचार्य भी। अनेक प्रकार के आंदोलन के साथ उन्होंने गृहस्थ आंदोलन की शुरुयात की थी, जिससे लाखों परिवार लाभ पाया। उनके परिवार जीवन पूनः व्यावस्थित तथा शांतिमय बनाने का जो महान् कार्य उन्होंने शुरु की उसी कर्मधारा में आज भी ढील नहीं पड़ी है। उनके हाथों बढ़े संतानोंमें से ऐसे अनेक जीवित हैं जो आदर्श आचार्य के रूप में हजारों परिवार को सही मार्ग दिखा कर धन्य करते हैं। आइए, आपलोग भी उनके अंतहीन आशीर्वाद और आश्वासन द्वारा अपने जीवन को धन्य बनाएं। उनके द्वारा स्थापित किए गये इसी सङ्घ ही आज का सबसे बड़ा आध्यात्मिक आश्रय है। इसी आश्रय का शरण लेकर अपने जीवन घन्य करें। बौद्धयुग में करोड़ो नरनारी श्रीबुद्ध द्वारा प्रवर्तित किए गये महान् संघ में शरण लेकर निर्वाण की रोशनि से धन्य हुए थे। आचार्य प्रणवानन्दजी कहते थे—मेरा सङ्घ है द्वितीय बुद्ध का सङ्घ। मेरा सङ्घ भी करोड़ो मनुष्यको महामुक्ति की राह दिखाएगा। तो साथीओं, आइए सब मिलकर बोले—'सङ्घं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, प्रणवं शरणं गच्छामि, आचार्यं शरणं गच्छामि'।

ॐ शांति

गीता की वाणी

मेरे सतसंग-प्रेमी भाईओं और बहिनों,

आज का आलोचना का विषय है—गीता-धर्म अथवा गीता की वाणी। आलोचना शुरु करने से पहले हम देख लेते हैं,—गीता क्या है, उसकी उत्पत्ति का इतिहास क्या है, किस जगह उत्पत्ति हुई, किस प्रकार की परिस्थिति में उसका पहला प्रचार हुया था, दूसरे शास्त्रग्रंथ की तुलना में गीता-धर्म की विशिष्टता क्या है, और गीताज्ञान लाभ करने का उपाय क्या होता इत्यादि।

साथीओं, श्रीमद्भगवद्गीता है सनातन हिन्दु धर्म का एक अनोखा समन्वयकारी ग्रंथ। प्राचीन हिन्दुधर्म में उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र नाम के जो तीन प्रस्थान-त्रयी का उल्लेख है गीता है उनमें से सबसे ज्यादा लोकप्रिय धर्मग्रंथ। केवल इतना ही नहीं, गीता का माहात्मया के बारे स्पष्ट भाषा में कहा गया है :

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थ वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतम महत्।।

अर्थात उपनिषद की समष्टि होती गाय, उस गाय को दोहन किए है गोपालनन्दन यानी स्वयं श्रीकृष्ण। अर्जुन उस गाय का बछड़ा, परम गीतामृत उस गायका दुध, जिस दुग्धामृत पान करते हैं सुधी समाज अर्थात ज्ञानाथी साधकों। इससे आसानी से समझा जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीता है एक अनंत ज्ञान का भंडार तथा उपनिषदसमूह का सार जिसे अँग्रेजी में कहा गया—The Gita is the quintessence of the Upanishads.

एक गुट के पंडित कहते हैं कि, जिन ग्यारह उपनिषद प्रमाणित माना गये गीता उनके बराबर गुणमान का एक और उपनिषद है। इसी लिए गीता का प्रत्येक अध्याय का अंत में कहा जाता है—'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रो श्रीकृष्णार्जुन-संवादे' इत्यादि। गीताकार श्रीभगवान श्रीकृष्ण स्वयं उस पर श्रीमुख से कहे हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानव्ययम्।।
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरूः।।
गीताश्रयेहहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहं।
गीता ज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम्।।

हे पार्थ, गीता है मेरा दिल, गीता ही मेरा सार, गीता मेरा उन्नततम ज्ञान जो कभी भी बदलेगा नहीं, गीता मेरा सर्वोत्तम स्थान तथा आश्रय भी, गीता मेरा परम अप्रकट तथा परम गुरु भी, गीता ही मेरा निवास तथा गृह भी है, गीता-ज्ञान के आश्रय से ही मैं त्रिलोक का पालन करता हूँ।

साथीओं, गीता का माहात्म्य कितना है श्रीभगवान की इसी उक्ति से आप समझ सकते हैं। गीता केवल श्रीभगवान की वाणी नहीं, गीता है उनका गुरुभी। अर्थात् श्रीभगवान न केवल अपने वाणी को प्रेम की नजर से देखते हैं, बल्कि उस पर उनका श्रद्धा है, और उसी गीता-धर्म से ही भगवान त्रिलोक पालन भी, पवित्र भी करते हैं। क्या दुनिया के किसी और शास्त्रकार अपने शास्त्र को इसी तरह सराहा है?

गीता-धर्म का एक और महान् विशिष्टता यह है कि गीता के आविर्भाव के पश्चात् अवतार मानने लायक जितने युग-पुरुष सनातन धर्म में पधारे हैं उनके सब हीने न केवल गीता माहात्म्य खुल्लम-खुल्ला स्वीकार की है, अपने मत प्रतिष्ठित करने के लिए वे विशेषकर गीता पर ही भरोसा करते थे। यानी हिन्दु धर्म में गीता के बाद जो भी नया मत या रास्ता मिला वह गीता का अवहेलना कर या उसे दूर हटा कर स्वीकृत नहीं हुया। इसी वजह से यह देखा जाता है कि श्रीमत शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बकाचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु इत्यादि धर्माचार्य अपने द्वारा प्रवर्तित किए गए अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद, ददैताद्वैतवाद, अचिंत्य-भेदाभेदभाव आदि मतसमूह के प्रचार और प्रतिष्ठित करने के लिए गीता का अनुमोदन तथा समर्थन खोजे थे। और इसी वजह से श्रीमद्भगवद्गीता की टीका तथा भाष्य की संख्या इतनी ज्यादा है। हमारे युग में भी श्रीअरविंद, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधीजी भी अपने पूर्णयोग कर्मयोग, अहिंस अनासक्तियोग इत्यादि के प्रचार और प्रतिष्ठा के लिए भी गीता का अनुमोदन पाने लायक टीका या भाष्य लिखे हैं। इससे आसानी से समझा जाता है, आजभी सनातन हिन्दु समाज के ऊपर गीता का कितना गहरा प्रभाव है। इसी लिहाज में यह भी याद रखें कि जिस बौध्दधर्म ने वेद का प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की उसके महायान-पंथी आचार्यसमूह अपने मत लोकप्रिय करने की खातिर गीताधर्म से बहुत कुछ लेने और अपनाने से नहीं हिचकिचाये थे। महात्मा यीशु द्वारा प्रवर्तित ईसाई धर्म पर भी गीता का प्रभाव बहुत है। अनेक जगह में गीता और बाइबेल के उपदेश लगभग अभिन्न है। वह नीचे दी गई उक्तिओंसे आसानी से समझा जाता है।

बाइबेल— 'वहदिन तुम जान पाओगे कि मैं मेरे पिता के भीतर और तुम लोगमें के बीच हूँ।'

गीता— 'यो मां पश्यति सर्वत्र' इत्यादि ६ / ३०
येन भूतान्यशेषानि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' ४ / ३५
'मयि ते तेषु चाप्यं' ९ / २९ / २०

बाइबेल— 'तुमलोग जो भी खाते या पीते या जो भी करते हो—सब ही ईश्वर के लिए करोगे' (पल की उक्ति)

गीता— 'यत् करोषि यदश्नाषि' इत्यादि ९ / २७

बाइबेल— 'जो भी मेरा धर्म पालन करता और हमें प्यार करता, मैं भी उसे प्यार करता हूँ (जान १८ / २१)

गीता— 'प्रियोहि ज्ञानिनोहत्यर्थमहं स च मम प्रिय:' ७ / १७

साथीओं, गीता और बाइबेल के आपस में मिलनेवाली उक्तिओं देखा कर पाश्चात्य के कुछेक पंडित यह प्रमाण करने की कोशिश की है कि गीता बाहबेल के बाद किसी युग में रचित की गई थी, पर उनके उस भावना है पूरा गलत और धृष्टतापूर्ण यह आज विशेषरूप से प्रमाणित हुया है। महात्मा यीशु खृष्ट बौद्ध भिक्षुओंके साथ भारत आकर जब चौदह बरस विविध संप्रदाय के पंडित और साधकोंसे धर्म से संवंधित उपदेश प्राप्त किए उस समय भारत में गीता का प्रचार व्यापक था, यह किसी तरह भी नकारा नहीं जाता। तो यह भी कल्पना नहीं किया जाता कि महात्मा यीशु के अविर्भाव के बाद ही गीता रचित की गई थी। फिर भी यह ना माननें का उपाय नहीं कि आधुनिक पंडितों में गीता का अविर्भाव का समय पर विविध मत चालू है। किसी के मानना है कि यीशु के जन्म के ९०० साल पहले गीता रचित की गई थी। एक और गुट के पंडित के मानना है कि महाभारत द्वापर युग में (आज से कमसे कम ५००० साल पहले) रचित हुया था, एवं गीता उसी महारात के भीष्म पर्व का एक भाग है। पंडितोंकी लड़ाई के भीतर न जाकर भी साधारण बुद्धि के जरिए हम यह भाँप ले सकते कि गीता बाइबेल से सौ सौ साल पहले रचित हुई थी। और इसी नजर से विचार कर पंडितोंने यह सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि सारे हिन्दु धर्म शास्त्र गीता में है, एवं उसका प्रचार तथा प्रतिष्ठा न केवल हिन्दुधर्म पर, दूसरे धर्म पर भी है बेजोड़। इसी कारण से गीता केवल हिन्दुओं के नहीं और अनेक देशोंके धर्मार्थी भी गीता को श्रद्धा की नजर से देखते हैं। लोग कहते हैं कि अंग्रेजी हुकुमत की शुरुयात में ईसाई पाद्रीओं ने कलकत्ते के पड़ोस में श्रीरामपुर शहर में जब पहला छापाखाना बैठाया उन्होंने भारतीय ग्रंथ में से सबसे पहले गीता का अनुबाद और प्रकाशन किया। शायद भारतमें गीता का प्रभाव देख कर, हिन्दु धर्म को नकारने की मंशा से गीता में न्यूनता दुढंने के लिए ही उस अनुबाद करवाये थे।

इसी विषय पर एक रूढ़िवादी गुट का भावना कुछ अलग है। वे कहते हैं, श्रीमद्‌भगवगीता की भाषा मनुष्य की नहीं, न किसी मनुष्य ने उसका रचना की है। वह है भगवान् के श्रीमुख से निकले अमृतमय संदेश। अपने तर्क की पुष्टि वे इस उद्‌धृति से करते हैं—'गीता मे हृदयं पार्थ गीता परमं वच':, अर्थात गीता मेरा हृदय है, मेरी वाणी भी है। इसी तर्क के अनुसार वे कहते, गीता के सारे श्लोक ही श्रीभगवान् के श्रीमुख से निकले थे।

साथीओं, उनके विश्वास और तर्क है बच्चों के विचार जैसे। क्योंकि अठारहवा अध्याय के सब श्लोक ही भगवान की उक्ति नहीं। उनमें संजय, धृतराष्ट्र और अर्जुन की उक्ति भी है, एवं भगवान् की उक्ति और उनकी उक्ति में भाषा का कोई फर्क नजर नहीं आता। इसके अलावा, भगवान श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन के लिए जो उपदेशवाणी कुरुक्षेत्र समरांगण मे उच्चारण किए थे, क्या वह छंदोबद्ध श्लोक के रूप होना संभव था? जवाब में उन भक्तगण कहते, सर्वशक्तिमान भगवान सब कुछ कर सकते हैं। साथ ही वे कहते हैं, अस्वाभाविक शोक-दुख या आनन्द जब ऊँचा ग्राम में पुहँचता तब उस मनोभाव छंदोबद्ध रूप में होना संभव होता। दृष्टांत के तौर पर वे कहते हैं, निदारूण शोक-दुख से कातर मनुस्य जब विलाप करता तो दुख-दर्द काव्य की भाषा में प्रकटित होते। कुरूक्षेत्र युद्ध के दौरान श्रीभगवान, संजय, धृतराष्ट्र एवं अर्जुन के मन पर विविध भाव का असर पड़ने से उनकी भाषा काव्यमय

हो गई थी। कुछेक पंडित यहभी कहते हैं कि उस युग के आम जनता की भाषा ही अलंकारिक और काव्यमय थी।

साथीओं, हमें लगता है कि आजके विचारवाले शिक्षितलोग उस प्रकारका तर्क नहीं मानेंगे। उसके अलावा, गीता है महाभारत का एक अंश, जिस महाभारत का रचना किए थे स्वयं व्यासदेव—आज सबलोग यह मानते हैं। और महाभारत एवं गीता की भाषा में विशेष सादृस्य भी है। गीता की भूमिका में स्पष्टरूप में कह गया है—'व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारते।'

साथीओं, हम समझते हैं कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर इतना कल्पना और तर्क है बिलकुल ही गैर-जरुरी। गीता धर्म का सार संकलन की नजर से वह विचार-वितर्क है पूरा अनावश्यक। तो आईए हम उससे जरुरी विषय पर आलोचना करते हैं।

साथीओं, कुछेक पंडित कहते हैं—'The Gita is the commentary of Hinduism।' अर्थात गीता है हिन्दुधर्म का टीका स्वरूप। यानी सबसे कम समय के भीतर हिन्दुधर्म का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए गीता ही है सबसे उपयोगी एवं प्रामाण्य ग्रंथ। 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै ग्रंथविस्तरै'—अर्थात् मनुष्य का आयुष्काल सीमित होता, शास्त्रग्रंथ की संख्या होती अनगिणत, तो उस शास्त्र-समुद्र मंथन करके ज्ञान लाभ करना बड़ा ही मुशकिल कांम होता। विशोषकर आपलोग जैसे गृहीओं जो दानापानी के चक्कर में दिनरात लगे रहते आपको उतना शास्त्र पढ़ने या उन पर आलोचना करने का अवसर और समय कहाँ होता? तो आपलोगों के उद्‌देश्य में कहा गया कि दूसरे शास्त्रग्रंथ पढ़ने का क्या प्रयोजन? केवल गीता के जरिए आप सामूहिक ज्ञान लाभ कर सकते।

साथीओं, आपमें से अनेक लोग जानते हैं कि गीता का महात्म्य अतुल्य होते हुए भी असल में गीता है एक छोटी शकल के ग्रंथ। अठारह अध्यायवाला यह मूल्यवान ग्रंथ आसानीसे जेब में रखा जा सकता। मगर यह छोटासा ग्रंथ है ज्ञान का भंडार तथा भक्ति, कर्म एवं ध्यानयोग का एक अनोखा दिग्‌दर्शक। इसके दार्शनिक एवं तात्विक सिद्धांत समूह है विचित्र तथा बहुमुखी, एवं उनमें अनेक जगह तो आपसी विरोध नजर आते हैं। तो गीतातत्व के इसी गहनत्व तथा दुर्ज्ञयत्व पर इसी लिए कहा गया है—

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किंचित कुंतीसूतः फलम्।
व्यासो वा व्यासोपुत्रो वा याज्ञावल्कोत्थ मैथिलः।।

साथीओं इसी संदर्भ में यह भी याद हो कि गीता धर्म प्रचार से पहले वेद के कर्मकांड, ज्ञानकांड, सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक आदि विविध सतह में आपस में विरोधी लगनवाले शास्त्र में कह गए साधनमार्ग चालू थे। गीता में उन मत एवं पथ समूह के एक अनोखा समन्वय देखा जाता। इसी वजह से एक अल्पज्ञ को गीता के सिद्धांतसमूह असंगत और आपस में विरोधी लग सकते। दृष्टांत उद्धत कर वे कहते हैं, गीता के एक एक जगह में वैदिक यागयज्ञ की कठोर निंदा की गई है जैसे—'वेदवादरतः पार्थ', फिर उसके बाद ही कह गया है 'यज्ञशिष्टासिनो संतो मुच्यंते सर्वकिल्विषै':, जो भी यज्ञ का प्रसाद लेते हैं वे सब प्रकार के पाप एवं ताप से मुक्त

हो जाते। कभी वेद की निंदा की गई है—'त्रैगुण्यविषय वेदा निस्त्रैगुण्य भवार्जुन', अर्थात् हे अर्जुन, वेद त्रिगुणात्मक होते, तुम त्रिगुणानीत हो जाओ। फिर कहीं कहा गया—'वेदानां सामवेदोस्मि' अर्थात् वेदसमूह में से मैं हुँ सामवेद। मैं वह हुँ जो वेद जानता है और जिसने वेदांत का रचना की है। फिर एक जगह कह गया है—'समोहहं सर्वभूतेषु न में व्देष्योहस्ति न प्रिय:' अर्थात् मेरे प्रिय नहीं है, अप्रिय नहीं और किसीसे शत्रुता करूँ वह भी नहीं है। यह भी एक जगह है—'प्रियोहि ज्ञानिनोहत्यर्थमहं स च मम प्रिय:' अर्थात ज्ञानी का मैं हुँ अतिशय प्रिय, और ज्ञानी है मेरे प्रिय। यह भी है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। 'ज्ञानं लब्धा परं शांतिमचिरेनाधिगच्छति' अर्थात् ज्ञान से पवित्र कुछभी है नहीं। ज्ञान द्वारा ही' साधक को अविलम्ब शांति मिलता है। और यह भी—'तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन:', अर्थात् नित्ययुक्त योगी ही हमें आसानी से पाते हैं।

गीता की उपरोक्त परस्पर-विरोधी उक्तिओं से हम अदंजा लगा सकते हैं कि गीतातत्व की उपलब्धि कितना मुशकिल काम है। इसी लिए पहले ही जान लेना चाहिए कि गीता है एक गुरुमुखी ग्रंथ। गीता रहस्य का पहला आलोचना हुया था गुरु-शिस्य में। एक तत्वज्ञानी महान् गुरु की कृपा बिना गीता रहस्य की उपलब्धि असम्भव होता। और इसी लिए गीता में कहा गया है—'तत्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया', अर्थात् हे अर्जुन, एक सद्‌गुरु के शरण लेकर, उनको प्रणाम कर, उनकी सेवा करोगे, उनसे पूछोगे, तबही तुम उस परम तत्व जान पाओगे।

साथीओं, आजकल कम लोग ही अध्यात्मज्ञान पाने के लिए गुरु लेने का आवश्यकता मानते हैं। वे कहते हैं, केवल शास्त्र पढ़ने और उस पर विचार करने से ही शास्त्रज्ञान प्राप्त करना सम्भव होता। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे गलत हैं। अंग्रेजी में कहते है—Life begets life, as light begets light. अर्थात् जैसे रोशनि से रोशनि होती है, उसी तरह जीवन से जीवन बनता है। गीता भी स्पष्ट भाषा में उस पर कहती—'मोक्षमूलं गुरुकृपा।'

जर्मन दार्शनिक नीट्शे कहते थे—बड़ा होना चाहो तो किसी के सामने सर न झुकाओ। सव विषय में अपना व्यक्तित्व जाहिर करो। व्याक्तित्व निर्माण करने के लिए नीट्शे ने self-assertion (अपना जाहिर करना) ही सबसे बड़ी नीति माना। मुसोलिनी और हिटलर उसी नीति अपना कर अपने व्यक्तित्व बनाये थे। पर क्या, तथाकथित व्यक्तित्व ही आखिर में उनके पतन का कारण नहीं बना?

भारत में व्यक्तित्व निर्माण की नीति, प्रणाली और राह है उससे अलग। गीता में उसका इशारा भी है। गीता धर्म का पहला श्रोता अर्जुन ने जब सारे अभिमान और अहंकार त्याग कर कहा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रुहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

अर्थात, चित्त की दीनता हेतु मैं हुँ अभिभूत, प्रकृत धर्म क्या होता उस विषय में मेरा चित्त है विमूढ़। मैं हुँ तुम्हारा शिस्य और शारणागत भी। जिससे मेरे मंगल हो वह मुझे निश्चित रूप से बोलो, मुझे उपदेश दो।

साथीओं, वर्तमान युग में भी हम जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द अपने बूते पर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन के अनेक शास्त्र पढ़ने के पश्चात बड़ा ही विभ्रम में पड़े। अत: जब वह दक्षिणेश्वर मंदिर का पुजारी ठाकुर श्रीरामकृष्ण के चरणतले पूरा आत्मानिवेदन किया तब ही अध्यात्म ज्ञान का आलोक प्राप्त कर धन्य हुया। गीता-प्रेमी तथा अध्यात्म ज्ञान के प्यासी भाई-बहनों को मैं कहुगा, अगर आपलोग वाकई गीताधर्म का रहस्य समझना चाहते तो आप भी अर्जुन की भाँति कहिए—

'यच्छेय: स्यान्निश्वितं ब्रुहि तन्में
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

हमने भी सारे जीवन के तजरबे से यह उपलब्धि प्राप्त की है कि, किसी ब्रह्मज्ञ सद्‌गुरु के शरण और आशीर्वाद बिना सही ज्ञान एवं शांति मिलना सम्भव नहीं।

साथीओं यद्यपि गीता ने बैदिक स-काम यक्ष की निदां की है, वही गीता ने ही निष्काम कर्मयोग का माहात्मय भी घोषित की है। उसमें यह भी कहा गया कि यागयज्ञादि वैदिक कियाकरम निष्काम रूप करने से भी मुक्ति लाभ होता है। इसके अलावा, गीता की नजर से यज्ञ का अर्थ बड़ा व्यापक है। किसी भी जागतिक कर्म अगर भगवत-प्रीति के लिए किया जाता तो वह भी यज्ञ माना जाता। इसी विचारधारा के अनुसार अर्जुन का युद्धकर्म भी यज्ञ धर्म के अंतर्गत होता है। गीता में वैदिक यागयज्ञ को 'द्रव्यमय यज्ञ' कहा गया है। क्योंकि उन यज्ञ घृत, तंडुल, यव, फल इत्यादि द्रव्य के जारिए किये जाते हैं। उसके अलावा, श्रीमद्‌भगवदगीता में तप: यज्ञ, ज्ञानयज्ञ, दानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ आदि 'अनेक प्रकारे यज्ञ का उल्लेख है। पर गीता का रचनाकार श्रीभगवानने जपयज्ञ को श्रेष्ठता दी है—'यज्ञानां जपोहस्मि'।

साथीओं, वैदिक यागयज्ञ इंद्र, सोम, बृहस्पति इत्यादि देवताओंको उद्देश कर किये जाते थे। पर गीता में जो व्यापक यज्ञधर्म के निर्देश है उनके भोक्त्त है गीता का रचनाकार स्वयं भगवान्। इस पर स्पष्ट निर्देश है—'मन्मना भव, मद्यक्तो मद्‌याजी मां नमस्कुरु'। अर्थात् मुझ पर ध्यान रखो, मुझे भक्ति करो, मेरे उद्देश में यज्ञ करो और मुझे ही प्रणाम करो। गीता के अनुसार, गीता का रचनाकार श्रीभगवान ही है यज्ञेश्वर नारायण। वह ही है एकमात्र आराध्य ओर उपास्य देवता। इसी भाव और भी स्पष्टरूप में गीता का नीचे दिए गए श्लोक में नजर आता—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिस्यानि मा शुच।।

यानी, धर्म पर तुम्हारे सारे पूर्व भावना त्याग कर एकमात्र मेरे आश्रय में आओ। मैं तुम्हें सर्व प्रकार पापताप से मुक्त करुंगा। इतना ही नहीं, इसी विषय पर गीता और भी कहती है—अन्यान्य देवदेवी मेरा ही अंश हैं। मेरे उपेक्षा कर, स्वर्ग कामना या जागतिक धनसंपदा

या यशमान लाभ की आशा से जो उन देवदेवी के उपासना करते वे है मोह से ग्रस्त और भ्रांत। इसी उक्ति से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक युग के अनगिणत देवदेवी गीता के युग में वासुदेव रूप में आविर्भूत हुए थे, और उसी की सूचना गीता में इस प्रकार है—'वासुदेवः सर्वभिति स महात्मा सुदुर्ल्लभः'। अर्थात्, वासुदेवरूपी मुझको जो सर्वमय तथा यथासर्वस्व मानता है वह ही है प्रकृत तत्ववेत्ता, और वह जैसा साधक विरले ही मिलता है।

साथीओं, उपनिषद का युग में नित्य-अनित्य विचार पर जो ज्ञान है, गीता में भी वह है। इसी से वह स्पष्ट होता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टहंतस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः।।

अर्थात्, असत् वस्तु का भाव (सत्व अथवा स्थायित्व) नहीं होता, सत् वस्तु का अभाव (विनाश) नहीं होता। तत्वदर्शिओंने सत् और असत् दोनों के ही चरम देखे हैं।

वस्तुतः गीता का द्वितीय अध्याय में अर्जुन को बारबार समझाया गया है कि शरीर अनित्य है, इन्द्रियादि से सम्पर्कजनित सुख-दुख भी क्षणस्थायी होते, केवलमात्र आत्मा होती सत्य और नित्य। उपनिषद का 'नेति' 'नेति' साधना का चरम लक्ष्य है निराकार निगुर्ण ब्रह्म। उपनिषद के अनुसार उसी निर्गुण तत्व ही सर्वश्रेष्ठ तत्व होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीता में भी इसी निर्गुणवाद की जगह है, मगर उसको सर्वश्रेष्ठ तत्व नहीं माना गया। गीता का द्वादश अध्याय में गीता का रचनाकार श्रीभगवान ने उस पर स्पष्टीकरण दी है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्तयंच कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।

अर्थात्, जो अक्षर, अनिर्देश्य, सर्वव्यापी, अचिन्त्यनीय रूप का उपासना करते हैं, अथवा जो मेरे निराकार निर्गुण भाव का ध्यान करते हैं वे भी हमें पाते हैं। मगर

क्लेशोधिकतरतेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।

अर्थात्, जिन साधकों निर्गुण ब्रह्म में आसक्तचित्त होते उनके सिद्धिलाभ में ज्यादा क्लेश होता, क्योंकि देहधारीओं (मनुस्य) ने अनेक कष्ट करके निर्गुण ब्रह्म संबंधी निष्ठा पाते हैं।

साथीओं, गीता का रचनाकार की इसी उक्ति से आसानी के साथ समझा जाता है कि गीता में परमात्मा के दोनों रूप (सगुण तथा निर्गुण) ही माना गया है एवं यह भी माना गया है कि सगुण या निर्गुण उपासना इन दांनों उपाय से ही उनको पाने का साधना में सिद्धिलाभ होता। पर श्री भगवान ने स्वयं ही निर्गुण उपासना से सगुण उपासना को सरल, आसान कहा है। उसके अलावा गीता के अनुसार, निर्गुण, निराकार ब्रह्मवाद साधनाका सर्वश्रेष्ठ तत्व नहीं होता। श्रेष्ठ है पुरुषोत्तम तत्व, जो है सगुण और निर्गुण के समाहार, यानी जिसमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों भाव ही होते हैं। अपने सगुण रूप का पूरा परिचय देने के लिए श्रीभगवानने कहा—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वां मां शांतिमृच्छति।।

अर्थात्, हमें यज्ञ तथा तपस्या का भोक्ता, सर्वलोक का महेश्वर तथा सर्वलोक का सुहृद जान कर मुक्त योगीपुरुष परम शांति लाभ करते हैं। फिर दुसरी जगह में श्रीभगवान ने कहा—

अव्यक्तोहर इतयुक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम।।

अर्थात् जिसको अव्यक्त और अक्षय कहा जाता है, जिसे श्रेष्ठ गति भी कहते है, यानी जो लाभ करने से संसार में पुनराय जाना नहीं पड़ता, वही है मेरा परम अव्यय स्थान या स्वरूप। अर्थात् मैं हुँ परम गति, यह परम ज्ञान के बिना जीव को जन्म-मृत्यु का चक्र पार होने का उपाय नहीं है।

इसी तरह गीता में सगुण और निर्गुण दोनों भाव के ही वर्णन देखा जाता। पर पुरुषोत्तम तत्व है गीता का सर्वश्रेष्ठ तत्व।

साथीओं, सांख्य दर्शन का पुरुष-प्रकृति तत्व भी गीता में स्वीकृत है। सांख्य का मौलिक तत्व है—पुरुष होते अ-कर्ता और प्रकृति होती सर्वमयी कर्त्री। गीता की बिभिन्न जगह में इसी तत्व स्वीकार किया गया है। पर गीता यह नहीं मानती कि, जड़ प्रकृति ईश्वर-निरपेक्ष हो कर स्वाधीन तथा स्वतंत्र उपाय से सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर सकती। गीता का नवम अध्याय में इस पर श्री भगवानने स्पष्टीकरण दी है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते।।

हे कौन्तेय, मेरे बसने से ही प्रकृति इसी स्थावर और जंगम पृथ्वी का प्रसव करती; इसी कारण से जगत वारवार उत्पन्न होता है। यानी भगवान का कर्तृत्व बिना प्रकृति स्वयं कुछ भी नहीं कर पाती। सांख्य का पुरुष-प्रकृतिवाद का मौलिक तत्व इसी तरह स्वीकारते हुए भी गीता उसी में जगन्नियन्ता ईश्वर का सर्वमय कर्तृत्व का आवश्यकता प्रमाणित की है।

साथीओं, उसी तरह पातंजल दर्शन का आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार मूलक ध्यानयोग स्वीकारते हुए भी, उसी ध्यान का लक्ष्यवस्तु है श्रीभगवान—केवल ज्योति स्वरूप परमात्मा नहीं—इसी परम गुहय तत्व ही गीता में प्रचार किया गया है। इसी कारण से अर्जुन को वारंवार कहा गया—हे अर्जुन, तुम मेरा ध्यान करो, हमें पाने से जन्म-मृत्यु का भूलभूलईया में तुम और नहीं फँसोगे। साथीओं, गीता के पूर्व ईश्वर संबंधी सारे कल्पना और मोक्षप्राप्ति के जितने साधनमार्ग है उनके भीतर ईश्वरवाद को सही जगह दे कर गीता उन सबको एक सुन्दर और स्पष्टरूप दान की है। इसी वजह से गीता-धर्म के सही साधकों की नजर में यह भेद खुल जाता है कि गीता का आदि, मध्य और अंत ईश्वरवाद से प्रेरित है।

साथीओं, गीता के अठारह अध्याय में अठारह प्रकार के साधन-मार्ग के उल्लेख होते हुए भी उसके मुख्य साधन-मार्ग है कर्म, ज्ञान, ध्यान और भक्ति। उन चार मार्ग में से किसी भी एक का सही आश्रय ले कर साधक परम गति लाभ कर सकते। पर मेरे विचार यह है कि गीता का रचनाकार का मूल और मुख्य उद्देश्य था—ज्ञान-ध्यान-भक्ति मिश्र कर्मयोग का महत्व प्रचार करना। गीताधर्म का प्रवक्ता भगवान श्रीकृष्ण और उनका श्रोता साधक अर्जुन के जीवन के आदर्श में इसी विचार विशेष रूप से प्रकटित और प्रमाणित भी। दोनों ही थे ज्ञानी, ध्यानी, प्रेमी तथा महान कर्मी भी। इसी लिए अर्जुन को ज्ञान, ध्यान और भक्ति पर अलग अलग उपदेश देने के साथ वारंवार निर्देश दिया गया है—'युद्धष्व विगत ज्वरः', अर्थात् हे अर्जुन, आलस्य त्याग कर तुम स्वधर्म यानी तुम्हारा कर्तव्य और जिम्मेदारी पूरी करो।

साथीओं, यह नहीं कि ज्ञान, ध्यान, भक्ति और कर्म के समन्वयमूलक साधना ही गीता का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। बल्कि गीता में दिए गए साधन पद्धतिओं में से एक बिशेष मतादर्श नजर आता जो किसी और शास्त्रग्रंथ में उतना साफ नहीं है। वह है प्रभु-प्रेम और देश-प्रेम का समन्वय, जिसे हम अध्यात्मवाद और राष्ट्रवाद का समन्वित साधना कह सकते। वाकई गीता न केवल अध्यात्मवादी साधक को मोक्षरूपी परमार्थ-साधना के लिए उद्योगी होने का निर्देश दी है, बल्कि जागतिक क्षेत्र में लगे हुए कर्मीओंको राष्ट्रीय परतंत्रता या परवश्यता की जकड़ से मुक्त होने को लगातार प्रेरित की है। तो गीता न केवल अध्यात्मवादी साधक की प्रियतम सामग्री है, वह देशमातृका के पुजारीओं की शक्ति और प्रेरणा का उद्‌गमस्थान भी है। हमारे युग में देखा गया कि देश के सच्चे सेवकों, जो देशमाता को हजार साल के परतंत्रता बंधन से मुक्त करने के लिए सहिंस और अहिंस आंदोलन में भाग लिए, वे गीता से अदम्य शक्ति और प्रेरणा पाये थे। हमारे अग्नियुग के सहिंस, क्रांतिवादीओं जैसे गीता हाथ में लेकर हसते हसते फाँसी के मंच पर कदम रखे, उसी तरह अहिंसापंथी नेता और कर्मीओं भी गीता से हिम्मत और प्रेरणा लाभ कर देशकी सेबा में अपने को निछावर किए।

पर हमें खेद है कि गीता का इसी देशात्मवोधक पहलू प्राचीन भाष्यकारों की नजर में नही आया। उनका कहना है, गीताग्रंथ की भूमिका के रूप में जो कुरुक्षेत्र का युद्ध दिया गया उसका इतिहासिक पहलू है नितांत गौण। उनमें से कुछके तो बल दे कर घोषित की है कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के पीछे कुरु-पाण्डव का युद्ध जो है, वह असुरों और देवताओं की जायदाद के लिए लड़ाई के सिवा कुछ भी नहीं। तो वे पूरी नजर गीता का आध्यात्मिक व्याख्या पर दिए थे जिसके नतीजा में, हम कहेंगे, हजारों साल तक आर्य हिन्दुओंने प्रभुप्रेम और देशप्रेम के दरमियान एक विशाल दीवार खड़ा कर रखे थे। यानी उनके विचार में, अध्यात्मपंथीओं को स्वदेश-प्रेम या स्वदेश-सेवा से रिश्ता रखने की जरुरत नहीं। वे भूल बैठे कि गीताकार भगवान श्रीकृष्ण स्वयं थे मूलतः धर्मराष्ट्र का संस्थापक। आंग्रेजी में हम कह सकते—'Shri Krishna was virtually a King-maker'—अर्थात् श्रीकृष्ण न

केवल अध्यात्मक्षेत्र में नीतिधर्म प्रवर्तित करने के लिए आविर्भूत हुए थे, उनका आविर्भाव का मुख्य कारण उन्होंने अपने मुँह से घोषित की थी—

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुस्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे युगे।।

अर्थात्, केवल साधुओं के परित्राण नहीं, दुस्कृतकारीओं के (देश के शत्रु) संहार कर धर्मसंस्थापन के लिए मैं आविर्भूत होता हूँ।

गीता का इसी जागतिक पहलू पर हमारे प्राचीन भाष्यकारों कितने उदासीन रहे वह आचार्य शङ्कर का गीता-भाष्य पर नजर डालने से समझ में आता है। यह महान् भाष्यकार न केवल गीता का युद्धमूलक प्रथम अध्याय, द्वितीय अध्याय के पहले दस श्लोक भी अपने भाष्य में रखे नहीं थे। वर्तमान युग में महात्मा गांधी भी कहे थे—गीता का युद्ध सत् और असत् की लड़ाई के सिवाय कुछ भी नहीं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण, पंच पाण्डव और कौरव के इतिहासिकता मानने को वह राजी नहीं थे। नोयाखालि के दंगा के अंत में जब वह उसी इलाका का हैरा कर रहे थे तो उनसे बातें करने का अवसर मिला। तो चक्रधारी श्रीकृष्ण के विषय पर उन्होंने कहा—न श्रीराम-श्रीकृष्ण इतिहासिक पुरुष थे, और न लङ्काकांड या कुरुक्षेत्र युद्ध का इतिहासिक मुल था।

साथीओं, क्या गीता पर गांधीजी का वह विचार एक मार्जना के अयोग्य अविचार नहीं था? हमारी नजर में तो गीता का सवीत्तम विशिष्टता है—गीता न केवल आध्यात्मिक साधना का निर्देश दी है, बल्कि जागतिक जीवन संग्राम को किस तरह भगवत्-प्रीति की और मोड़ कर जागतिक और आध्यात्मिक कल्याण लाभ हो, श्रीभगवान ने गीता में वह स्पष्ट संदेश भी दी है।

अब हम गीता-धर्म का पहला श्रोता तथा साधक, यानी तीसरा पांडव अर्जुन, के गुण तथा अधिकार पर थोड़ा बहुत बातें कर इसी आलोचना का अंत करेंगे। क्योंकि हम भी हैं गीता-प्रेमी तथा गीता का मर्मार्थ उपलब्ध कर गीता के अनुसार साधना में लगने को उत्सुक। इसी लिए यह जान लेना आवश्यक है कि किस प्रकार के गुण के अधिकारी होने पर अर्जुन को गीता का रचनाकार श्री भगवान का मित्र तथा सलाहकार के तौर श्रीभगवान का अभीप्सित धर्म संस्थापन का महान् औजार बनने का सौभाग्य मिला था। गीता में श्री भगवान नें वारंवार कहा—हे अर्जुन, तुम हो मेरे सर्वाधिक प्रिय, तभी मेरा गुह्यतम गीताधर्म का रहस्य तुम्हें सुनाना हूँ। वेष्णव भक्तों की नजर से श्रीभगवान के सर्वाधिक प्रिय मित्र तथा सलाहकार थी व्रजगोपीं श्रीराधा, एवं उनके बाद में दूसरे गोप-गोपियां। पर कौन यह नकारेगा कि उनमें से किसीको भी गुह्य गीता-तत्व का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया? क्योंकि हम भी गीता-धर्म का आलोचना में लगे हैं, तो इसी लिए हम यह मानने पर मजबूर हैं कि अर्जुन ही रहा श्रीकृष्ण का प्रियतम भक्त। अब देखते हैं उस तीसरा पाण्डव के चारित्रिक विशिष्टताएं क्या थे, और किस महान् गुण तथा अधिकार के बुते पर वह गीताधर्म का पहला श्रोता तथा साधक चुने गये थे।

सबसे पहले नज़र आती है अर्जुन की मातृभक्ति। अति शैशव में पितृवियोग होने के नतीजा में अन्यान्य भाईओं की माँति अर्जुन कोभी पितृसेवा का अवसर नहीं मिला था। इसी मानसिक क्लेश दूर करने के लिए वह युधिष्ठिर को पिता तथा भाई के तौर पर देखने और सेवा करने पर विशेष ध्यान दिया। वह युधिष्ठिर का इतना भक्त हो उठा कि उसने संकल्प्य लिया कि किसी व्यक्ति अगर युधिष्ठिर का एक बूँद खून गिराता तो उसका सिर काट कर तब ही दम लेगा। महाभारत के पाठकों जानते हैं कि छद्मवेश में विराट राज के घर में बसने के दौरान एक दिन युधिष्ठिर पर ज्यादा नाराज़गी के कारण विराट राज उसके शरीर पर शतरंज का मोहरा जोरसे फेंका, और युधिष्ठिर के शरीर से खून की धार बहने लगी। युधिष्ठिर तुरंत द्रौपदी को बुला कर कहा—'तुम अविलम्ब यह जगह साफ़ करो ताकि खून का एक भी बूँद रह न जाए। उत्तर के साथ बृहन्नला (अर्जुन का एक नाम) अब यहाँ जा पहुँचेगा। वह अगर देखा कि विराट राज से मिला चोट की वजह मेरे शरीर से खून बहता है तो वह विराट को माफ़ नहीं करेगा। विराट राजने भूल से जितना बड़ा ही अपराध किया, वह हमारे आश्रयदाता भी और सच्चा हितैषी भी है।'

और एक दिन की घटना इसी संदर्भ में उल्लेखयोग्य है। दुर्योधन का राजसभा में मझला पाण्डव भीमसेन जब देखा कि पापमति दुर्योधन के आदेश पर उसीका भाई दुःशासन द्रौपदी को विवस्त्र करने लगे है, एवं द्रौपदी की कातर विनति के बावजूद युधिष्ठिर शांत और निरुत्तर थे, तो भीम वारवांर गंदी भाषा में युधिष्ठिर की निंदा करने लगे। अतः अर्जुन ने भीम को सावधान किया—'मझला पाण्डव, आप धीरज रखें। हमारे बड़े भाई काई बिगड़ा-दिमाग नहीं है। जो धर्मतः ठीक है वह वही करते हैं। तो राजसभा में उनको इतना तिरस्कार तनिक भी उचित नहीं। आप अगर आइन्दा उनका उसी तरह निंदा करें तो मैं आपको माफ़ नहीं करूंगा' अर्जुन का दृढ़ संकल्प देख कर भीमसेन रूक गये। उपरोक्त दो घटना से हम जान पाते अर्जुन के दिल में बड़ा भाई युधिष्ठिर पर कितना श्रद्धा था। अब देखते हैं अर्जुन की मातृभक्ति कितनी थी।

साथीओं, यह स्वीकार किए बिना उपाय नहीं कि पंच पाण्डव में से विशेष कर धर्मराज युधिष्ठिर माता कुंतीदेवी पर विशेष अनुरक्त और सेवापरायण रहे। मगर सब भाईओंके तुलना में अर्जुन की मातृभक्ति रही अपरिमेय। एकदिन घर लौट कर अर्जुन देखा कि माता रोती है; उनकी आंखो से अविराम अश्रुधार बहती। माता की इसी अवस्था देख कर कातर अर्जुन उसके चरण पर गिरा और पूछा—'क्यों रोती माँ, किसने तुम्हे दुख दी है? हमलोग राजपाट खोकर बनों में बसने पर मजबूर हैं, क्या तुम्हें उसी का दुख सताता? याद हो तुम्हारा पाँच संतान अब भी जिंदा है। वे जिंदा रहते तुम्हें दुख देने की हिम्मत किसमें है?' कुंती तब भी निरूत्तर रही तो अर्जुन ने पुनः पूछा—'माँ, तुम्हारा दुख का कारण मुझे कहना ही पड़ेगा। मैं बेचैन रहुंगा जब तक तुम नहीं बताती' तो कुंती मनःक्लेश का कारण प्रकट करने पर मजबूर हुई—'अर्जुन, एक समय मैं साम्राज्ञी रही। हमारे गृहदेवता महादेव की पुजा कितनी धुमधाम और लगन के साथ करती थी। मगर आज मैं हूँ एक वित्तहीन अनाथा। कल सुबह

जब मैं शिवपुजा के लिए मन्दिर गयी तो गांधारी ने तीखा उपहास की—"हमारे गृहदेवता की पुजा इस तरह खाली हाथों, जैसे तैसे करके नही चलेगी। अगर उपयुक्त रकम पास हो तो पुजा के सारे उपचार लेकर मन्दिर आना, वरना नहीं।" वत्स, उसका वाक्यबान से मेरे दिल पर गहरा चोट लगा। मुझसे गृहदेवता की पुजा शायद आइन्दा संभव नहीं होगा।' माता का यह खेद सुन कर अर्जुन बड़ा ही दुखी हुया और कहा—'माँ खेद न करो, अभी तुम्हारा मनस्काम पूरा करुगां। यह कह कर अर्जुन घर से निकला और कुवेर के धनभंडार के दिशा में एक तीर मारा। धनरत्न के अंबार आ पहुँचा। माता के चरणों में वह रख कर अर्जुन ने कहा—'ये सब है तुम्हारे लिए। पुजा के सारे उपचार लेकर आज मन्दिर जाओ। मैं देख लूं किसमें त्वम्हें रोकने की ताकत है।'

कितनी मर्मस्पर्शी रही अर्जुन की मातृभक्ति। आप लोगोंके घर में मातापिता और भाई होते हैं। क्या आप अर्जुन की तरह अपने सबकुछ देकर उनकी सेवा करते हैं? इन दिनों ज्यादातर लोग मातापिता को काशीवासी कर, भाईओंसे रिश्ता काट कर अपने पत्नी और बेटाबेटी के स्वतंत्र सुखी संसार रचने की आदि हुए हैं। मानो मातापिता और भाईबहन उनके सुख-शांति तथा आराम में अड़चन आते। इसी वजह से वे उनकी सेवा की झंझट से कट कर अलग एक सुखनीड़ रचते हैं। फिर उनहीं में से ऐसे भी लोग होते जो मानसिक शांति के लिए सुबह गीता का एक-आध अध्याय पाठ करते अथवा गीता पर आलेचना सुन कर पुण्यार्जन करने को तुले हुए होते। पर हम कहेंगे कि इस तरह के हृदयहीन तथा कर्तव्य ज्ञानहीन लोगों को गीताज्ञान मिलना असंभव है।

अब अर्जुन की गुरुभक्ति पर ध्यान देते हैं। आपलोग जानते हैं कि द्रोणाचार्य पाण्डव और कौरव दोनों के ही अस्त्रगुरु रहे, पर अर्जुन था उनका प्रियतम शिष्य। अर्जुन पर द्रोण का अपार स्नेह-वात्सल्य न केवल कर्ण, शकुनि और कोरवोंको, द्रोण का पुत्र अश्वथ्यामा को भी दु:सह लगता था। उनके विचार में अर्जुन पर द्रोण मोहाच्छन्न और पक्षपाती थे। द्रोण का इसी आचरण का वे प्रायश: ही आलेचना करते थे। पर द्रोण को यकीन था कि अर्जुन अपने पटुता के वुते उनके स्नेह का पात्र बना था, और अर्जुन पर उनका पक्षपात का कोई कारण नहीं था। तो वह एक दिन एक कौशल के जरिए अश्वथ्यामा, कर्ण, शकुनि और कौरवोंको भूल प्रमाणित करने को उत्सुक हुया। एक संध्या जब सब भोजन कर रहे थे, अचानक द्रोण ने बत्ती बूझा दी। सिवा अर्जुन के किसी को द्रोण का काम नज़र नहीं आया, क्योंकि खाते वक्त भी अर्जुन एक नज़र गुरु पर रखा था। तो सब के भोजन बंद हो गया। पर अर्जुन ने अंधेरा में यह पाया कि अपने हाथ मुख में भोजन देने लगा। थोड़ीसी सोचने पर वह समझा, वह होता रोजाना आदत का नतीजा। तो गुरुदेवने एक नया विषय पर शिक्षा देने के लिए यह कौशल अपनाया है। इतने दिनों हम दिनमें लक्ष्यभेद करना सीखे हैं। बत्ती बूझाकर वह समझाना चाहते कि जिस तरह अभ्यास के जरिए हाथ अंधेरे में भी भोजन मुख में भेजता है, कुछ दिन अभ्यास करने से हम अंधेरे में भी लक्ष्यभेद कर सकेंगे। बत्ती पुनराय जल उठी, और भोजन समाप्त कर सब सोने चले। लेकिन अर्जुन को नींद नहीं आई। जो

न्त्या प्रेरणा वह पाया उसीके बल वह अंधेरे में ही लक्ष्यभेद करते हुए तीर मारने लगा। तीर मारने की आवाज सुन कर द्रोण बिस्तर से उठा और उसके सामने आ पहुँचा—'यह क्या हो रहा, अर्जुन! इतनी रात में क्यों तीर मार रहे हो? क्या अंधेरे में तुम निशाना देख सकते?' फ़ौरन तीर मारना बंद कर अर्जुनने गुरुको प्रणाम निवेदन की और कहा—'यह तो आप ही की शिक्षा और प्रेरणा है। भोजन का समय मैनें देखा कि आपने बत्ती बूझा दी। उस से मैं समझा, आप चाहते थे कि हम अंधेरे में भी लक्ष्यभेद का अभ्यास करें।' गुरुने कहा—'शावाश! इसी गुण से ही तुम मेरा प्यार पाये हो। दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण और अश्वथ्यामा को बुलाओं। वे अपने आंखों से देख लें किस कारण तुम शास्त्रविद्या में सबसे आगे हो, और क्यों तुम मेरे इतना प्रिय हो।'

इसी विषय पर एक और बात। द्रोण का नियम था, सुबह का एक निर्दिष्ट समय वह शस्त्र शिक्षादान कार्यक्रम शुरु करते थे। उस समय जिस शिस्य हाजिर होता वह उसीसे कार्यक्रम शुरु करते। यथसमय का पालन करने अर्जुन अतिआग्रही थे। वह देखा कि सुवह शौचकार्य के लिए जिस जलपात्र `ले जाना होता उसमें पानी भरने में देर होती। तो वह उसका मुख खोलने का एक नया उपाय क्यिा जिससे जल्द उसमें पानी भर जाता। अब वह सुबह तुरंत शौचकार्य से मुक्त हो कर सबसे पहले खेलकुद के मैदान में हाजिर होने लगे, और शस्त्रविद्यापर थोड़ा वहुत ज्यादा ज्ञान दूसरे शिक्षार्थीओं के पहुँचने से पहले पा लेते। सिवा अर्जुन के किसीको उतना आग्रह नहीं था, तो उनको शिक्षा कम मिले।

साथीओं, अर्जुन की गुरुभक्ति, शस्त्रविद्या पर उत्साह औ लगन कितना गहरा था वह उपरोक्त घटनाओंसे आप समझ सकते। उसके अलावा, गुरु की सेवा में भी वह रहा सबसे पहले। गुरुसेवा के वह इतनी आदि था कि कुरुक्षेत्र का युद्ध में द्रोणाचार्य कौरव दले में रहने के बावजूद, अर्जुन रणक्षेत्र पहुँच कर सबसे पहले दो तीर मारते थे द्रोण को श्रद्धा जताने के लिए। पहला गिरता गुरु के चरणों के सामने, जिससे प्रणाम निवेदित होता। दूसरा गुरुके कान के पास से निकल जाता—अपने हाजिरी सूचित करने।

साथीआँ, आपमें शिक्षादाता गुरुपर भक्ति और प्रेम उतना गहरा हो तो तभी आप गीता-धर्म सुनने तथा पालन करने का अधिकारी हैं। अब देखें अर्जुन की भगवद्‌भक्ति कितनी गहरी थी। आपलोग जानते हैं कि गीता का रचनाकार स्वयं भगवान श्रीकृष्ण थे अर्जुन का आश्रयदाता सद्‌गुरु, और गुरु को उस पर इतना प्रेम था कि अर्जुन एक लहमा भी गुरु से दूर नहीं रहता था। इसी लिहाज में यह भी जानना आवश्यक है कि शास्त्र के अनुसार भक्ति-साधना पाँच प्रकार के होते—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, एवं सबके अलग अलग महत्व होता। अर्जुन का सखाभाव था स्वाभाविक।

दोनों बराबर में सख्यता होता है। तो इसी विचार से हम आंदाजा लगा सकते कि श्रीकृष्ण और अर्जुन में बराबरी का रिश्ता था। उम्र और रूप में दोनों थे बराबर। और श्रीकृष्ण की भाँति अर्जुन भी था एक महा शक्तिशाली तथा वीर योद्धा। दोनों के हृदय में ही प्रेम था। इन कारणों से श्रीकृष्ण उसको सखा माने थे। पर यह भी सच है कि श्री भगवान

की विभुति या ऐश्वर्य अपार-अनंत होते। कितना भी शक्तिशाली और गुणवान क्यों न हो मनुष्य कभी भी भगवान का बराबर नहीं होता। तो यह वास्तव है कि अर्जुन सब पहलू पर श्रीकृष्ण का बराबर नहीं था। इसी लिए देखा गया कि कुरुक्षेत्र रणांगन पर व्याकुल अवस्था में श्रीकृष्ण के उपदेश सुनकर अर्जुन को साफ़ उपलब्धि हुई कि अपने रथ का चालक तथा सखा (मित्र) श्रीकृष्ण ज्ञान और गुण में उसके वहुत बड़े थे। तो सारे शक्ति, गुण के गर्व त्याग कर, उनके चरणों में प्रणाम कर शिस्यत्व लेने में अर्जुन तनिक भी नहीं हिचकिचाया। अर्जुन चरित्र की इसी विशिष्टता है सबसे अधिक महत्वपूर्ण। मित्र जान कर जिससे इतने दिनों बराबरी का रिश्ता रखा, उसीको गुरु मान लेना, यह विस्मय की बात है ही।

साथीओं, अहमिका या आत्माभिमान अध्यात्म साधना की राह पर सबसे बड़ा रोड़ा डालता, जिसे त्याग देने से धर्म-जगत की चाबी आसानी से हाथ आती है। तो इससे यह समझ लेना चाहिए कि अर्जुन का इसी आत्मसमर्पण योग ही गीता के धर्म साधना की भित्तिमूल है। इसी भित्ति पर प्रतिष्ठित हुए हैं गीता-धर्म के और जितने साधना। तो आईए, सबसे पहले इसी आत्मसमर्पण योग की दीक्षा लेने को हम अपने को प्रस्तुत करते हैं।

अर्जुन की पटुता, गुण और अधिकार हम विस्तार के साथ ओलाचना कर चुके हैं। तो साथीओं, आत्मदृष्टि के सहारे अब विचार करें कि अर्जुन की पटुता, महत्व और गुणों में से कितने हमें है। अर्थात्, क्या हम अर्जुन जैसे मातृभक्त, भ्रातृभक्त, गुरुभक्त और भगवदभक्त हैं? क्या हम भी उतना धीर, वीर, प्रेमी और योगी? अर्जुन जैसे देश और धर्मरक्षा के लिए कृत-सङ्कल्प? अगर हम में इन गुणों और योग्यता की कमी हो तो सबसे पहले उन कमिओं दूर कर गीता-धर्म का साधना के लिए कमर कसना पड़ेगा। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की सूचना में यह दिया गया है कि हमारे हृदय में जितने आसुरिक संपत्ति होती उन सबको त्याग कर दैवी संपत्ति के विकास करना अत्यावश्यक है। गीता का द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—प्रकृत ज्ञानी या स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या होता? जवाव में भगवानने जिन गुण और अधिकार सूचित की है, उन पर नज़र डाला जाय। हमें यह जानना चाहिए कि किसी भी चमतकारी सिद्धाई को गीता में अहमीयत नहीं दी गई। गीता में स्पष्टरूप में कहा गया—काम, क्रोध और लोभ है नरके तीनों द्वार। उनपर पूरी तरह नियंत्रण पानेसे पहले गीताधर्म में प्रवेश असंभव है। संघनेता आचार्य प्रणवानन्दजीने भी इस पर स्पष्ट भाषा में कहा—'धर्म-साधना का मूल है रिपु-दमन और इंद्रिय-संयम।' गीता में भी कहा गया है—'वशे हि यस्येंद्रियानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता', अर्थात् रिपु और इंद्रिय पर जिसका नियंत्रण है वही प्रकृत ज्ञानी।

एक और विषय पर बात करके मैं यह ओलाचना का अंत करुंगा। वह है : 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'—कर्म-सन्यास से कर्म योग बड़ा है। अपने कर्तव्य और जिम्मेदारी के अवहेलना कर अनेक लोग धर्म-साधना के नाम पर जप-तप में डूब जाते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने चेतावनी दी है—'चालकी के सहारे कोई बड़ा काम नहीं

बनता'। हमारे दिल की गहराई में हजारों विषय-वासना होते। उन्हें पूरी तरह उखाड़े बिना जो आसानी से योगी, ज्ञानी या भक्त बनना चाहते वे हैं पूरी गलत। इस पर गीता का उपदेश है : 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:', यानी अकर्म से कर्म बड़ा होता है। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते : कर्म, अकर्म और विकर्म, और इसी कर्मतत्व को अति रहस्यमय मान कर श्रीभगवान ने कहा : 'गहना कर्मनो गति:'।

क्षणभर के लिए भी मनुस्य कर्महीन न रह सकता—'न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिस्ठत्यकर्मकृत्।' फिर कर्म से ही बंधन का उद्भव होता है। तो उपाय क्या है?

उसकाभी राह निर्देश गीता में है—यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकाहयं कर्मवंधन:', अर्थात यज्ञ का भावादर्श के विना जिस कर्म किया जाता वही बंधन का कारण बनता। यज्ञरूप कर्म किस तरह किया जाए? जवाव है—सद्गुरु का शरण लो। गुरु के निर्देश पर युद्ध करने के बावजूद अर्जुन बंधनग्रस्त नहीं हुए। तो आईए, हम भी हमारे सब आशाओं को गुरु की ओर मोड़कर उसे अध्यात्म-साधना में लगा दें। नवयुग का आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी गीता की ही मर्मवाणी पुन: साधकों को सुनाए हैं : 'तुम मेरे संघ-साधनारूपी महान् कर्मयज्ञ के ऋत्विक बनों। मेरे अभीप्सित धर्मराष्ट्र स्थापन के कारीगर बन कर मेरे आशीर्वाद और आश्वासन से जीवन धन्य करो।'

इसी कारण से आचार्यजी गुरुवाद को ही हमारे युग का आखरी रास्ता करार दे कर उसके प्रचार में लगे थे। उनके प्रवर्तित किए गुरुपूजा के जरिए देशभर में श्रद्धा-भक्ति का उपयुक्त पर्याबरण धीर धीर बनता है। उनके द्वारा रचित किए गए 'संघगीता' ही इसीयुग में भगवद्गीता का नया संस्करण है, जिसमें आत्मोन्नति के सरल नीति-नियमों दिए गए हैं। आईए, हम उस महान् गुरु का शरण लें और उनके द्वारा प्रचारित ज्ञान-ध्यान-भक्ति मिश्रित कर्मयोग का आदर्श आदर के साथ स्वीकार कर हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्र जीवन धन्य और सार्थक करें।

ॐ शांति:, शांति:, शांति:

रामायण की शिक्षा

ॐ श्रीरामाय रामचन्द्राय रामभद्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीताया पतये नमः।।

धर्मप्रेमी भाईओं, और बहनों,

आज हमारे आलोचना का विषय है रामायण की शिक्षा। अर्थात् आदिकवि वाल्मीकि ने जिस रामायण महाकाव्य का रचना किए थे उसका अंतर्निहित ज्ञान और शिक्षा का स्वरूप क्या है, यही है हमारे आलोच्य वस्तु। न केवल भारत में बल्कि सारे दुनिया के साहित्य जगत में रामायण और महाभारत की ख्याति है असामान्य। मुख्यतः काव्य होने के बावजूद इन दोनों महाकाव्य में अनुपम शास्त्रीय ज्ञान, तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्र चेतना के अक्षय प्रस्रवण है। रामायण की तुलना में महाभारत का युग अधिकतर जटिल रहा। इसीकारण से महाभारत के नायकों के चरित्र आज आम जनता के पूरापूरि अपनाने योग्य नहीं लगता। दृष्टातंस्वरूप महाभारत के श्रेष्ठ चरित्र श्रीकृष्ण की आठ महिषी थीं। उनका प्रधान शिष्य अर्जुन की भी एकाधिक पत्नी थीं।

रूढ़िवादी हिन्दु परिवारों में किसी एक जमाने में चालू बहुविवाह प्रथा की आज निंदा होती। उधर पंच पाण्डव का विवाह हुआ एक द्रौपदी के साथ। उस प्रकार एक पत्नी के बुहपति की प्रथा का भी आज उपहास किया जाता। वाक़ई महाभारत के युग में ऐसे अनेक सामाजिक रीति-रिवाज रहा जो भले ही उस समय के उपयुक्त हो वर्तमान में वह हूबहु स्वीकार कर लेना अनुचित है। यद्यपि महाभारत न केवल एक महाकाव्य के रूप जाना जाता, वह 'पंचम वेद' नाम से भी विख्यात है। महाभारत की तुलना में रामायण की कहानियां हिन्दु परिवारों में च्यादा लोकप्रिय है। श्रीराम एवं श्रीकृष्ण दोनों ही थे भगवत् शक्ति के महान् अवतार। पर यह मानना ही पड़ता कि श्रीरामचन्द्र के चरित्र में भागवत् गुणों से मिले हुए है ऐसे बहुत मानवोचित गुण और महत्व जिनके हम चिरकाल आदर करते हैं। इस लिए अनेक लोग कहते हैं, उनके घरों के कहानियां ही रामायण में लिखे हैं। अर्थात् उस महाकाव्य में सनातन हिन्दु के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्र जीवन का जिस अनोखा चित्र उभर आता सब काल में वह है हमारे आदरणीय तथा अविनश्वर। श्रीराम का एकमात्र पत्नी लेना, उनकी पितृमातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, स्वजनप्रीति, प्रजारंजन का प्रयास हमारे चिरकाल अनुसरण तथा अनुकरण की वस्तु होती। महाभारत की तुलना में रामायण का यही महत्व है।

साथीओं, रामायण रचना का इतिहास भी याद करने लायक है। क्रोंच-मिथुन की एक तुच्छ घटना को लेकर महर्षि वाल्मिकी का हृदय में एक अनोखा भाव का उद्गार के साथ साथ जो अनुपम काव्य-प्रतिभा जाग उठा उसी के सार्थक रूपायण के लिए वे व्यग्र हो पड़े। उस बेचैनी का कारण देवर्षि नारद के शरण लेकर वे कहे : ''भगवन, मैंने एक महाकाव्य

रचना करने का शुभ सङ्कल्प की है। उसमें सहायता पाने के लिए मैं आपके शरणापन्न हूँ। कृपया मुझे एक आदर्श चरित्र का खोज दीजिए जिसमें सर्वप्रकार के गुण, महत्व, शक्ति वीर्य, दया, क्षमा, सरलता, और महानुभवता हो।'' देवर्षि नारद ने जवाब दिया—''मेरे विचार में रघुकुलपति दशरथ-नंदन श्रीरामचन्द्र ही उस प्रकारके सर्वगुणाधार भी हैं सर्वप्रकार महत् आदर्श की प्रतिमूर्ति भी हैं। वे ही आपके महाकाव्य योजना का नायक होने का योग्य हैं।'' नारद के निर्देश पर वाल्मिकी अपने सङ्कल्प किए महान व्रत पालन करने का उद्योग किया, और उनकी तप:पूत लेखनी का अमर अवदान रामायण एक काल-विजयी महाग्रंथ के रूप में आज सबके श्रद्धा तथा आदर की वस्तु है। अवाक होने का विषय यह है कि प्राचीनतम युग में रचित उस महाग्रंथ के माधुर्य, सैंदर्य, रस परिवेषण करने की क्षमता, अलंकारिक ऐश्वर्य आज भी दुनिया के विदग्ध समाज में अम्लान है। ओर हमारे विचार है कि जब तक मानव सभ्यता का शेषभाग रहजाए तब तक उसका मर्यादा और आदर अक्षुण्ण रहेगा।

आइए, अब उस महाकाव्य का सर्वश्रेष्ठ नायक श्रीरामचन्द्र के गुण, ज्ञान और महत्व का आलोचना करते हैं। आपलोग जानते हैं कि सम्राट दशरथ की तीन सौ तीन राणी थीं जिनमें से कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा प्रधान महिषी रहीं। दशरथ थे अपुत्रक और पुत्रहीनता का दुख से बचने के लिए वे वशिष्ठ इत्यादि गुरुकुल के शरण लिए थे। वे उनको सलाह दिए—''महाराज, आप पुत्रेष्टि यज्ञ आयोजित करें, तथा यज्ञ के दौरान संयम और सदाचार के व्रत लेकर प्रार्थना करते रहिए। हम आशीर्वाद करेंगे कि आप पुत्रलाभ कर सुखी हों।'' रामायण के पाठकों जानते हैं, ऋषिओंके निर्देश पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने के नतीजा में दशरथ की मनस्कामना पूरी थी। यज्ञ का प्रसाद खा कर तीनों राणी गर्भवती हुई और कालक्रम से प्रधान महिषी कौशल्या के गर्भ से श्रीरामचन्द्र द्वितीय राणी कौकेयी के गर्म से भरत और तृतीय राणी सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न जन्मे।

भाईओं और बहनों, नि:संतान राजा दशरथ की पुत्रप्राप्ति का इस महान परम्परा हमें सीखाता है कि रामचन्द्र, भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न जैसे आदर्श संतान लाभ करने के लिए मातपिता को व्रतचारी और प्रार्थनापरायण होना पड़ता, तथा उसी लिए गुरु और महापुरुषों के आश्वासन एवं आशीर्वाद भी आवश्यक होता। इसी संदर्भ में हमें याद होना चाहिए कि मनु स्मृति इत्यादि शास्त्र में दो प्रकार के संतान के बारे में कहा गया है। एक 'धर्मज पुत्र', जो पाने के लिए संतानकामी पति-पत्नी को संयम-निष्ठा सहित व्रतपालन करना और श्री भगवान के चरणों में व्याकुल प्रार्थना करना पड़ता। गुरु और महापुरुषों के आशीर्वाद भी सहायक होता है। दूसरा किस्म का होता 'कामज' पुत्र।

भाईओं और बहनों, आजका नास्तिकता और अश्रद्धा का युग में भी रूढ़िवादी परिवारों में रामायण का कदर कुछ कम नहीं है। रामायण पाठ में श्रद्धालु श्रोता की संख्या कुछ कम नहीं होती। लेकिन आदर्श संतान लाभ करने के लिए राजा दशरथ और उनकी राणीओंके वह तपस्या तथा व्रतनिष्ठा का हम कहाँ याद करते हैं? न केवल रामचन्द्र, जगत

के सब महापुरुष के जन्म के इतिहास में भी उसी तरह के परम्परा होते। हम उन महापुरुषों को पुजते, उनके जीवन, वाणी और लीला सुन कर प्रेमाश्रु बहाते, लेकिन हम भूला देते कि वे हमारे अनुकरण के योग्य हैं।

श्रीरामचन्द्र का जीवन की आलोच्य दूसरा घटना थी उनके तीर्थयात्रा से संवंधित दिव्यज्ञानलाभ करने की कहानी। किशोर अवस्था में श्रीरामचन्द्र ने दशरथ से अनुरोध किया—''पिताजी, हम तीर्थ दर्शन करना चाहते। क्या, आप हमारी प्रार्थना कृपया मंजूर करेंगे''? ज्येष्ठपुत्र के प्रश्न पर दशरथ जवाब दी—''राम, तुम सब बालक हो। साधारणतः बालिग लोग ही तीर्थ दर्शन करना चाहते। पर जब तुमलोग की यही इच्छा है तो मैं उपयुक्त अभिभावक के साथ तुम्हारे तीर्थ दर्शन का इंतजाम करूंगा। साथ ही यह आशीर्वाद करता हूँ कि तुम सब निर्विघ्न और सेहतमंद पर्यटन पूरा कर घर लोटो।'' तीर्थ दर्शन के दौरान श्रीरामचन्द्र अपने भ्राताओंके सहित पिता के साम्राज्य के विभिन्न स्थान तथा गुरुत्वपूर्ण तीर्थ दर्शन कर अयोध्या लौटे। पर जब वे राजप्रासाद पहुँचे तो उनके कृश तथा मलिन देह, विषण्ण वदन और चिंताक्लिष्ट चेहरा देख कर सब चिंतित भी विस्मित भी हुए। शायद दीर्घ पर्यटन पर राह का थकन, आहार्य-पानीय की असुविधा उनके शारीरिक तथा मानसिक अवसाद लाया है, यह विचार कर दशरथ अपने महिषी और परिचारकों को निर्देश दिया कि वे पुत्रगण के आराम और आमोद पर विशेष ध्यान दें। उस आदेश होते ही सब आराम और आमोद का बंदोबस्त हुया। लेकिन यह क्या! रामचन्द्र की नज़र तो उसमें नहीं थी। स्वादु आहार, सुन्दर वेशभूषा और नृत्य-गीत के आयोजन देख कर वे और भी नाराज हुए। सुख की जगह उनका दुख बहुत बढ़ गया। निराशा की काली साया उनके चेहरा पर फैल गई। आधोवदन राम रातदिन निदारूण चिंतामग्र रहें। इतना कि जीने के लिए जो सामन्य आहार्य-पानीय-निद्रा आवश्यक होता उस पर भी वितृष्णा आया। उनकी शारीरिक तथा मानसिक दुर्दशा बढ़ती गई।

श्रीराम की मनोदशा देख कर राजा दशरथ चिंतित हुए। किसी भी वैद्य की सलाह से काम न हुया तो वे गुरु वशिष्ठदेव के शरणापन्न हुए। श्रीराम के दैहिक तथा मानसिक लक्षणों निरीक्षण कर वशिष्ठदेव उनका मानसिक पीड़ा का कारण अविलम्ब समझ गये और दशरथ से कहे—''महाराज, चिंता न करें। श्रीरामचन्द्र कोई सामान्य मानव नहीं। एक महान व्रत पूर्ण करने के हेतु उनका आविर्भाव हुया है। सुतरां उनको आश्रय कर जो कुछ हो रहा है उससे उनका कल्याण तो होगा ही, जगतवासी के भी महा कल्याण होगा। तीर्थयात्रा के दौरान जो आधी-व्याधि, दुख-दुर्दशा श्रीराम आस-पास में देखें उससे मन में नित्यानित्य पर विचार उभर आया है। आत्मकल्याणकामी योगी और साधक को इसी अवस्था परम काम्य होती। जगत के करोड़ों लोग अविद्या की घोर निद्रा में हैं। मानव जीवन का महान लक्ष्य भुला कर वे रूपरसादि नश्वर विषयभोग में डूबे हुए हैं। हजारों कटु तजरबे से जर्जर होते हुए भी उनमें ज्ञान नहीं आता। रामचन्द्र हैं एक महा भाग्यवान पुरुष, तभी किशोर अवस्था में ही उनके हृदय में इस प्रकार के विचार वैराग्य जागृत हुया है।''

गुरू की सलाह दशरथ को आश्वास न दे सकी। उन्होंने सोचा, राम मेरा बड़ा लड़का है, उसकी कर्मदक्षता पर मेरा राज्य तथा अनगिणत प्रजाओंके भविष्य का दरोमादार है। तो वे कहे—"हे ऋषिवर, राम का मन इतनी कच्ची उम्र में ही संसारवितृस्ण होने से मेरा परिवार का क्या होगा? हम तो जानते हैं 'पंचदशोर्धे वनं व्रजेत्'। राम की मानसिक अवस्था हम जैसे प्राप्तवयस्क लोगों को शोभा देती। कृपया आप उसे यह सलाह दीजिए कि वह अकालपक्कता का मोह त्याग कर विद्यार्जन तथा स्वधर्म का पालन करे।" वशिष्ठदेव ने कहा—"महाराज, चिंता न करें। कुछ दिनों के लिए मैं राम को अपने पास रख कर वह सलाह और अनुशासन दूंगा जिससे वह वैराग्यजनित सच्चा ज्ञान लाभ कर उपयुक्त रूप से संसार धर्म का पालन कर सकेगा।"

भाईओं और बहनों, उसके पश्चात् श्रीराम को आत्मस्थ करने के लिए महर्षि वशिष्ठ ने जिस अमूल्य उपदेश दिये थे भविस्य में वही 'योगवाशिष्ठ रामायण' नाम पाया। उस महान ग्रंथ आज भी वैराग्य-व्रती साधक समाज का महा आदर की वस्तु है। त्याग-व्रत की इच्छा लेकर हम जब पहला हमारे आश्रयदाता सद्गुरूके चरणतले पहुचे वे हमे पुनःपुनः योगवाशिष्ठ रामायण, विशेषकर उसका वैराग्य प्रकरण अध्याय पढ़ने का निर्देश देते थे।

साथीओं, तीर्थयात्रा के माध्यम ज्ञानलाभ के नतीजे श्रीराम जो नित्यानित्य विवेक का आश्रय लाभ किए, उनके जीवन का उस महान परम्परा चिरकाल शांतिकामी मानव को यह सीखायगा कि केवल पुण्यार्जन हेतु जो तीर्थयात्रा तथा देवदर्शन किए जाते वह मानव में सच्चा भाव-भक्ति, विवेक और बैराग्य को जागृत नही करते, उल्टा उससे भ्रमण-विलास और अर्थका अपव्यय होते।

इसी सदर्भ में वशिष्ठदेव ने यह भी सीखाया : संसार दो प्रकार के होते—ज्ञान और अज्ञान के। अज्ञान का संसार में विषय-सेवा का कारण बंधन ही बढ़ता है, दूसरी तरफ में ज्ञानका संसार में मनुष्य सच्चा मुक्ति का खोज पाता।अर्थात् संसाराश्रम में प्रवेश करने से पहले सद्गुरु के आश्रय में मनुस्य को नित्यानित्य विवेक विचार के ज्ञान लाभ करना आवश्यक है। उससे मनुष्य अनासक्त चित्ते सहित संसार चलाने का कौशल जान लेता। रामायण-पाठक और श्रोताओं से हमारे निवेदन है कि वे केवल पुण्य अर्जन की खतिर न रामायण पढ़ें न उसका पाठ सुनें। बल्कि वे रामचन्द्र जैसे पहला जीवन में सच्चा वैराग्य-विचार लाभ कर अनासक्त चित्त सहित अपने संसार जीवन में प्रवेश करें।

साथीओं, हमारे दूसरा आलोच्य विषय है ऋषि विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के वन-गमन। उस समय रामचन्द्र अठारह बरस के थे। उसी उम्र में वे शास्त्र और अस्त्र विद्या के अथाह ज्ञान लाभ कर चुके थे। रामायण से ही हम जान पाते कि विश्वामित्र ही उन्हें अस्त्र विद्या की शिक्षा दिए थे। अस्त्र शिक्षा दान के पश्चात एकबार ऋषि विश्वामित्र राज दरवार में पधारे। पात्रमित्र के साथ सम्राट दशरथ सिंहासन पर बैठे हुए थे। ऋषिप्रवर के आगमन के साथ साथ सम्राट और उनके पात्रमित्र आसन से उठ कर उनकी पाद-बंदना करने लगे। राजा की सेवा से सतुष्ट हो कर ऋषि ने कहा—"एक प्रार्थना लेकर में आपके दरवार आया

हूँ। क्या आप वह मंजूर करेंगे?'' जवाब में महाराज कहा—''भगवन, आपको न दूँ ऐसा कुछ मेरे पास है भी? कृपया आपके अभिप्राय पेश करें। आपकी इच्छा पूरा कर पाने से मैं आपने को धन्य मान लूं।''

अब विश्वामित्र ने कहा—''राक्षसों हमारे धर्म-कर्म विघ्न करते हैं। उनके अनाचार और अत्याचार से तपस्वी साधक तथा याज्ञिक ब्राह्मणकुल बड़ा भयभीत हैं। मैने खुद एक यज्ञा का आयोजन की है। लेकिन मुझे डर है, क्या वह निर्विघ्न पूरा होगा तो? उसी यज्ञ में सहायता के लिए मैं कुछ दिन रामचन्द्र को मेरे पास रखना चाहता हूँ। अवश्य ही आप जानते हैं कि किसी समय मैं क्षत्रिय था। क्षत्रीय वीर्य मेरा जन्मगत संस्कार है। पर बाद में क्षत्रीय धर्म त्याग कर मैंने ब्राह्मण वृत्ति का आश्रय लिया। यज्ञ रक्षा हेतु अस्त्र लेना आज मेरे गृहीत व्रत के विपरीत होता। इधर रामचन्द्र की शक्ति का मुझे तजरबा है। मुझे यकीन है कि उसकी सहायता से मेरा यज्ञ निर्विघ्न संपन्न होगा। इस धर्मभूमि भारत के सम्राट के रूप में देव-द्विज की रक्षा तथा उनके धर्मकर्म के विघ्न दूर करना आपही के कर्तव्य है। अतः अविलम्ब मेरी प्रार्थना मंजूर करें।''

महर्षि के अनुरोध सुन कर दशरथ चिंतित हुए, और कहे—''मेरा ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र अब बालक ही है। अत्याचारी राक्षसकुलके सामना कर आपके यज्ञ रक्षा करना उसके काबू की बात न लगता है। अगर आप अनुमति दें, आपके यज्ञ रक्षा करने मैं खुद आपके साथ चलूंगा।'' महाराज का प्रस्ताव से असंतुष्ट विश्वामित्र ने जवाब दिया—''मैं अपना प्रस्ताव पेश करने से पहले ही आपने मुझे वचन दी थी कि मेरी प्रार्थना मंजूर होगी। अब वह मंजूर नहीं हुई तो मैं आपके दरवार में एक पल भी न रूकुंगा। वचन दे कर जो वचन भंग करता उसका मुख देखना भी मैं पाप मानता हूँ।''

गुस्से से तमतमाता विश्वामित्र का चेहरा और उनकी तीखी आवाज देख कर दशरथ अविलम्व रामचन्द्र को उनके साथ चलने का आदेश दिया। छोटा भाई लक्ष्मण वैसे भी उनके मित्र थे। तो वे भी रामचन्द्र के साथ चले। राम-लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र अयोध्या नगरी की सीमा पार कर घने जंगल में दाखिल हुए। जंगल के थोड़ा भीतर जाकर विश्वामित्र ने कहा—''राम, तुम धनुर्वान हाथ में लों। आकाश में देखो, ताड़का राक्षसी महा गर्जन करती हुई इधर आ रही है। तुम उसकी कत्ल करो।'' राक्षसी को देख कर रामचन्द्र ने हिचकिचाते हुए कहा—''ऋषिवर यह राक्षस तो है लेकिन स्त्रीलिंग की है। शास्त्र कहता है, सौ अपराध करने से भी ब्राह्मण, स्त्री और साधु अ-बध्य होते।'' राम की बात पर विश्वामित्र बिफर उठा—''तुम बालक हो। तुम्हें थोड़ा ही शास्त्रज्ञान है। शास्त्र का कहना है : 'आततायीनमायंतम् हन्यादेवाविचारयन' अर्थात् घातक नारी हो या पुरुष हो, ब्राह्मण हो या अब्राह्मण, गुरुजन या नहीँ, उसे बध करना ही धर्म होता।'' बाते न बढ़ाकर रामचन्द्रने तीर मारा। उस अव्यर्थ तीर ने मुहूर्त में ताड़का को मार डाला।

साथीओं, वर्तमान युग के आत्मरक्षा में उदासीन तथा झूटा अहिंसावाद से विभ्रांत हिन्दुओंको उस घटना से सीखना चाहिए कि देश और धर्म के शत्रुओं, मंदिर और देवालयों

के हमलावरों, परस्त्री के अपहरण करनेवालोंको मार डालना ही धर्म है, और उन पापीओंको छुटकारा देना महापाप है।

ताड़का को मार डालने के बाद राम-लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र अपने यज्ञभुमि की ओर चलें। वहाँ मारीच, सुबाहु इत्यादि रावण के अनुचर के साथ रामचन्द्र की निदारुण लड़ाई हुई। राक्षासें को बुरी तरह हराकर वे निर्विघ्न रूपसे यज्ञ कार्य पूरा किए। राम-लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र अब अयोध्या लौटने की जगह राजा जनक की राजधानी मिथिला नगरी की ओर चलें। रास्ते में पत्थर का बढ़ा टुकड़ा निर्देश कर वे कहे—''राम, ऋषिपत्नी अहल्या उनके पतिदेव का अभिशाप से यह पत्थर बनी है। तुम्हारे पवित्र चरणों से छू कर उनका उद्धार करों।''

श्रीरामचन्द्र की उस अहल्या-उद्धार की घटना में हमलोग के लिए कुछ शिक्षा है। एक पतिव्रता पत्नी अपने पति पर प्रेम भूला कर जब किसी परपुरुष पर आकृष्ट होती उससे पातिव्रत्य धर्म का लंधन यानी एक महापाप होता। मगर उस पापी आत्मा पर अगर किसी पतितपावन महापुरुष के आशीर्वाद की धारा पड़ती तो उस आत्मा की शापमुक्ति होती। अर्थात् मानव जो भी अपराध करता उसका प्रायश्चित असंभव नहीं है।

क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका।

साथीओं, अहल्या-उद्धार की घटना का एक अनोखा व्याख्या कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने दी है। उन्होंने कहा, 'अहल्या' शब्द का अर्थ है एक जमिन जिस पर हल नहीं जोता गिया। यानी बंजर जमिन। रामचन्द्रने जो अहल्या-उद्धार की उसका असली तात्पर्य यह है, विश्वामित्र रामचन्द्र को भारत के अनुर्वर दक्षिणांचल ले गए जहाँ कृषि-सभ्यता का विस्तार न होने के कारण बाशिन्दे की सभ्यता कम उन्नत थी। अर्थात रामचन्द्र के माध्यम ऋषि विश्वामित्र दक्षिण भारत में उन्नत आर्य सभ्यता का विस्तार करवाये। एक वर्ग के आधुनिक नरनारी रवीन्द्रनाथ के इस व्याख्या का अनुमोदन करते हैं। दक्षिण के बाशिन्दे उस समय फलमूलादि से जीविका निर्वाह करते थे एवं रामचन्द्र का प्रचार-उदयोग के नतीजा वहाँ कृषि-सभ्यता के साथ साथ उन्नत जीवनादर्श भी बढ़े।

अतः विश्वामित्र राम-लक्षण को लेकर मिथिला पहुँचे, जहाँ राजा जनक अपने परम विदुषी तथा प्यारी कन्या सीता के विवाह के लिए एक स्वयंवर सभा आयोजित कर रखे थे। सीता का पाणिंप्रार्थी के रूप में देश विदेशके राजा और राजकुमार उस सभा में आमंत्रित हुए थे। लेकिन न राम न लक्ष्मण उस विषय कुछ भी सुने थे। एक सुबह दोनों भाई राजपूरी में टहलते टहलते एक सुन्दर उद्यान-वाटी में गए। उस बाग के भीतर एक मनोंहर देवालय रहा। सखीओं के झुण्ड के साथ स्वयं राजकुमारी सीता पुजा-बंदना के लिए उस मन्दिर आए। हठात रामचन्द्र की नजर सीता पर लगी, और सीता को देखते ही वे पूरा मोहित हो गऐ। एक मुहूर्त भी वे उस अनुभूति भूल न सके। पर होश में आकर वे अपने पर दुखी और विचलित होकर लक्ष्मण से कहे—''लगता है, हमसे नीच कुलांगार रघुकुल में जन्मे नहीं। मैं महापापी हूँ।'' लक्ष्मण ने पूछा—''बड़े भाई, तुम इतनी विचलित किस कारण से

हो?'' रामचन्द्र ने जवाब दिया—''अभी लड़कीओंके एक झुण्ड पुजा करने मन्दिर आये थे। उनमें से एक पर मेरा मन इतना बैठ गया कि सौ कोशिश के बावजूद उसके याद मैं भूल ना पाता। यह तो एक जघन्य अपराध है।''

रामचन्द्र का मानसिक उद्वेग दूर करने को लक्ष्ण ने कहा—''उसमें विचलित होने का क्या है? अपने पर थोड़ा सा काबू पाते ही तुम्हें उसका याद न रहेगा।'' लेकिन रामचन्द्र वह नहीँ माना और कहा—''मेरे मन में वह अबांछित चिंता क्यों आई? इस पाप का प्रायश्चित क्या है? चलो, हम दोनों गुरुदेव विश्वामित्र से पूछेंगे, जिस यज्ञ के लिए हमको लाया गया वह तो हो चुका। तो हमको यहाँ क्यों लाया गया?'' रामचन्द्र की शिकायत सुनकर विश्वामित्र मृदु इस कर कहा—''राम, तुम हो आत्मविस्मृत। तुम वेकुंठपति विष्णु रहे। अब भूभार घटाने की खातिर तुम जगत में अवतीर्ण हुए हो। तुम्हारी सहधर्मिणी लक्ष्मी भी तुम्हारे साथ अवतीर्ण हुई है जनक राजा की कन्या सीता का रूप में। तुम तुम्हारे चिरंतन साथी को देख कर उस पर आकृष्ट हुए हो। उसमें कोई पाप नहीं है। मैंने इस मकसद से तुमको मिथिला लाया कि सीता का स्वयंवर सभा में तुम भाग लो।''

साथीओं, महाभारत के युग में अनुलोम, प्रतिलोम, गांधर्व, आसुर इत्यादि अनेक प्रकार विवाह-विधि चालू थीं। लेकिन महाभारत पूर्व रामायण के युग में विवाह विधि उतना जटिल न थी, रामायण युग के क्षत्रिय राजकुल में सुंदरी तथा गुणवती कुमारीओं के विवाह ज्यादातर स्वयंवर के जरिए होता था। जनक राजपुत्री, अतिसुंदरी और अपार गुणान्विता सीता के लिए भी एक स्वयंवर सभा आयोजित हुआ था। उस सभा का अंतर्गत था एक धनुर्यज्ञ, जिसके जरिए सीता के योग्य प्रार्थी चुना जाता था। राजा जनक के घर में एक विशाल हरधनु रखा था। राजा ने घोषित की थी, जो उस धनु उठा कर उससे तीर मार सकेगा वह ही सीता के पति होने का योग्य माना जाएगा।

उस खवर सुनते ही अनगिणत राजा और राजकुमार सीता के प्राणिप्रार्थी के रूप में स्वयंवर सभा में पधारे। विश्वामित्र के आदेश पर रामचन्द्र और लक्ष्मण भी वहां पहुँचे। एक एक प्रार्थी जब राजा जनक की शर्त पूरी करने में नाकाम हुए तब गुरु के आदेश पर श्रीरामचन्द्र यज्ञभूमि की ओर बढ़े। उनके घुटने तक लंबा हाथों, वीर्यदीप्त और चेहरा पर दिव्य कांति सबको मोहित कर दिया। धीर मगर दृढ़ कदम पर आगे बढ़ कर रामचन्द्र ने बांई हाथ से अनायास ही वह विशाल धनु उठाया, और उसे बल देकर जब तीर मारा तो उस तीर जमीन पर गिर कर दो टुकड़ा हो गया। सभा में खूब वाह वाह सुनाई दिया। पिता के आदेश पर वर-माला हाथ में लेकर सीता रामचन्द्र को माल्यदान करने को आगे बढ़ी। मगर रामचन्द्र उसे रोक कर कहा कि वे पितामाता के अनुमति तथा उपस्थिति के बिना विवाह करना नहीं चाहता। उनके कहना का समर्थन कर विश्वामित्र ने जनक के सामने एक नया प्रस्ताव रखा—''महाराज, राम को लेकर वे है चार भाई। सीता को लेकर आपके घर में चार विवाह देने योग्य लड़की है। तो आप रघुकुलपति राजा दशरथ को एक दूत के हाथों यह प्रस्ताव कीजिए कि आपके और आपके भाईके कुल चार कन्या के विवाह उनके चार

पुत्र के साथ हो।'' जनक राजा के प्रस्ताव पर तीनों महिषी, पात्र-मित्र और गुरु वशिष्ठ सहित राजा दशरथ मिथिलापुरी पधारे और महा धुमधाम के साथ, शास्त्रविधि के अनुसार उस विवाह अनुष्ठित हुया।

भाईओं और बहनों, रामचन्द्र के विवाह से हम जो शिक्षा ले सकते वे है दो प्रकार के। पहला, रूपवती और गुणवती कन्या का विवाह के लिए प्रयोजन होता एक वीर्यवान, पराक्रमशाली तथा गुणवान दुलहा। आजके युवा रूपवती युवतीओं के पाणि-ग्रहण को व्याकुल होते। लेकिन उस रूपवती का मर्यादा रक्षा करने का बलबूता कितने युवा में होता? दूसरा, सनातन हिन्दु विवाह के लिए प्रयोजन होते दुलहा-दुलहन के कुलशील से संबर्धित योग्यता, दोनों तरफ के पितामाता और गुरु-पुरोहितों के आशीर्वाद।

साथीओं, विवाह के पश्चात् अपने दल को लेकर रामचन्द्र अयोध्या की ओर चलें। लेकिन रास्ते में एक निदारूण संकट हाजिर हुया। भृगु पुत्र परशुराम हाथ में कुठार लेकर भीषण रुस्ट यमराज की भाँति रास्ता रोके खड़े थे। क्रुद्ध गर्जन कर उन्होंने कहा—''जनकपुरी में रखे मेरा एक पुराना धनु तोड़ कर तुम अपनेको महा वीर ठहरे हो। अब हम से लड़ कर तुम पराक्रम का सबुत दो।'' परशुरामको प्रणाम कर रामचन्द्र ने कहा—''मुनिवर, आपसे लड़ कर मैं अपने धृष्ठता का परिचय देना नहीं चाहता। मैं हार मानता हूँ, आप कृपया रास्ता छोड़ दें।'' लेकिन भृगु-पुत्र नहीं माना। दोनों में भयानक लड़ाई हूई। अंत में परशुराम ने कहा—''रामचन्द्र, मैं तुम्हारे वीर्य-विक्रम और विनय-नम्रता से मोहित हूँ। मेरे महाप्रयाण का समय अब नजदीक आया। तुम्हारे साथ इस लड़ाई एक नाटक ही है। इसके जरिए मैं तुम्हें मेरी तप:शक्ति का संचार कर दिया। साथ ही मैं यह आशीर्वाद करता हूँ कि, शत्रु निधन कर एक प्रजारंजक राजा के रूप में तुम चिरकाल विख्यात रहो।''.

परशुराम और रामचन्द्र दोनों ही अवतार थे। इन दोनों के संधर्ष पर नास्तिकों और विधर्मीओं अनेकश: हिन्दु धर्म का कठोर समालोचना करते हैं। मगर उनको जानना चाहिए कि आसल में वह युद्ध नहीं रहा, बल्कि एक की लीला का अंत में दूसरा अवतार का आविर्भाव की शुभ सूचना थी।

अपने भाईओं और दलके लोगों के साथ श्रीरामचन्द्र राजधानी लोट कर पत्नीओं सहित कुछ दिनों के आदर्श सुखी गृही जीवन का आनन्द ले रहे थे, इतने मे सम्राट दशरथ पात्र-मित्र से सलाह कर अपने हृदय का एक शुभ सङ्कल्प हाजिर किए। उन्होंने कहा—''मेरे गृही जीवन का समय पार हुया है। अब मेरा ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र बालिग है। उसने उपयुक्त शिक्षा पाया जिससे संसार-आश्रम की जिम्मेदारी पूरी संमल सके। मेरी इच्छा है कि उसे युवराज के रूप में अभिषिक्त कर मेरे संसार जीवन का अंतिम कर्तव्य का पालन करुं।'' दशरथ का उत्तम प्रस्ताव सुन कर उनके पात्र-मित्र और रिस्तेदारों खुश हुए। लेकिन कहते है, 'श्रेयांसि बहु विघ्नानिनि,' यानी श्रेय कर्म में सौ बाधा आती।

दशरथ की मझला स्त्री कैकेयी की परिचारिका मंथरा थी एक अति दुष्टचरित्र नारी। रामचन्द्र का राज्याभिषेक की खवर से जब सबके मनमें अपार आनन्द था इधर मंथरा का

मन में उसका उल्टा असर हुआ। वह तुरंत राणी कैकेयी के पास गयी और नाना प्रकार चतुराई के सहारे उनका मन कलुषित करने लगी—"महाराणी, क्या आप सुने हैं कि महाराज अपने ज्येष्ठपुत्र रामचन्द्रको युवराज रूप में आभिषिक्त करना तय किये हैं, और उस कारण से राजधानी भर में भव्य सजावट और त्योहार की तैयारियां हो रही हैं?" दासी के मुख से उस शुभ संवाद सुन कर कैकेयी को इतना आनन्द हुआ कि वे बोले—"मंथरा, यह शुभ संवाद सुन मैं बहुत खुश हुई, हुँ। यह लो मेरे बहुमूल्य कंठहार, जो शुभ संवाद सुनाने का पुरस्कार है।" लेकिन उस पुरस्कार मंथरा को खुश न किया। हार दूर फेक कर उसने कहा—"राणीजी, आप अस्वाभाविक भी हैं, बुद्धिहीन भी हैं। राम के राज्याभिषेक से आपको इतना आनन्दित होने का क्या है? आप कभी सोचे भी, राम राजा बनने से भरत का क्या हाल होगा?" तब भी कैकेयी नहीं हिली, और कही—"राम पर मेरा अपार स्नेह है। तुम देखती नहीं कि कौशल्या का बेटा होते हुए वह अधिकांश समय मेरे ही पास रहता? मेरे आदर और प्यार से वह कितना गर्वित है। हाँ, भरत मेरा लड़का है। लेकिन वह मामा के घर में रहता। उसको स्नेह और आदर देने का अवसर हमें कहाँ मिलता? राम राजा बनने से भरत का क्या होगा, उस पर तुम क्यों सोचती? दूर रहते हुए भी भरत राम का पूरा अनुगत है और राम का उस पर बड़ा भाई का प्यार है। अत: राम राजा बनने से भरत को आनन्द तो होगा ही, राम को उसकी हर प्रकार मदत मिलेगी।" कैकेयी की युक्तिपूर्ण बातों से दुष्टमति मंथरा को शांति नहीं मिली। वह पुनराय कैकेयी को सलाह देने लगी—"आप जो सरल प्रकृति के हैं, लोग हर कदम पर आपकी सरलता का फायदा उठा लेगा। आप मानिये चाहे न मानिये, राजा बनने का साथ साथ ही रामचन्द्र धनदौलत और पद-गैरव से गर्वित हो जायगा। आप पर उसकी पूर्व की भक्ति भी नहीं रहेगी। भरत पर उसका स्नेह भी अवश्य ही बदलेगा। उसके अलावा, प्रधान महिषी कौशल्या बनेगी राजमाता और आप होंगे उनकी घृणा और अवज्ञा की वस्तु।"

बिभिन्न उपाय से बारबार मंथरा कैकेयी के कान में दिनरात विष डालने लगी तो राणी का मन भी आमूल बिगड़ा। नीतिशास्त्र का कहना है : सत्‌संग से स्वर्गवास, असत् संग से सर्वनाश'। कैकेयी को भी वैसा ही हुआ। उन्होने कहा—"मंथरा, मैं मानती हूँ कि संसार के विषय पर तुम हम से ज्यादा तजर्वकार हो। भरत के भविष्य पर मैनें कभी यह सब सोचा तक नहीं। हाँ, अगर वाकई उस तरह के कुछ हो जाय तो मेरा क्या करना है?" मंथरा अब मुस्करायी—"राणी, बड़ा सरल उपाय आपके सामने है। शायद आपको याद हो, सेवा-शुश्रूषा के जरिए दो दो भयानक संकट से आप राजा दशरथ की रक्षा की थी, और वे खुश होकर आपको दो वर देने को प्रस्तुत थे। उन दोनों वर मांगने का शुभ अवसर अब आया। आप महाराज को कहिए, पहला वर यह हो कि वे रामचन्द्र को चौदह बरस वनवास करने का आदेश दें, और दूसरा वर से वे उन चोदह बरस के लिए भरत को राज्याभिषिक्त करें।" मंथरा का सलाह कैकेयी को पसंद आया। उन्होंने अनशन का व्रत रखा। उनके रूप, गुण और सेवा से दशरथ मोहित तो थे ही और ज्यादातर उनके प्रासाद में ही रहते थे। लेकिन

अब उस प्रासाद में उन्होंने जो देखा उससे वे विस्मित हुए। उनकी भोगविलास-प्रिय राणी कैकेयी मैला लिवास पहने, कुछभी आहार किए बिना फर्श पर पड़ी थी। आंखों से अश्रुधार बहती। महाराज उनके चरणों के पास बैठ गए और कहे—''प्रिया, तुम्हारा यह कैसा हाल है आज? क्या हठात कोई व्याधि धर ली या किसी ने तुम्हें दुख दिया? तुम्हारे मुंह पर हमेशा जो हासी-मजाक रहता उसकी साया भी नहीं है। इस दीनहीन हालत में रोती क्यों?'' कुछ देर कैकेयी के मुँह से एक शब्दभी नहीं निकला। पति के बारबार अनुरोध पर वे कहे—''मेरी सेवा से खुश होकर क्या एक दिन आपने भरत को राज्य दान करने का प्रस्ताव नहीं की थी, और वह वचन भूला कर आज अपने ज्येष्ठपुत्र राम पर पक्षपात कर रहे हैं। जो दोनों वर आप मुझे देने उस समय चाहा, अब उस वादा निभाएं। वरना मै उपवास कर मरूंगी।''

महाराज कैकेयी को अनेक समझाया बूझाया, लेकिन उनका मन विषाक्त हो चुका था। वे किसी भी सलाह नहीं माने। महाराज को समस्या हुई। वे सोचे, इस दुःसंबाद रामको किस तरह सुनाया जाए? इतने में श्रीराम वहाँ आ पहुँचे एवं महाराजा और कैकेयी दोनों को दुश्चितांग्रस्त देख कर उनके बेचैनी का कारण जानने को व्याकुल हुए। बारबार पुछने पर कैकेयी अपने इच्छा व्याक्त की। पर रामचन्द्र उनके उस भीषण प्रस्ताव से तनिक भी विचलित नहीं हुए। परिवार की शांति के खातिर उन्होनें तत्काल अपने मन में संकल्प की कि पिता के वचन पूरा करने को वे अविलम्ब वनवास पर जायेंगे। कैकेयी को आश्वस्त कर रामचन्द्रने माता कौशल्या के प्रासाद पहुँचा और सारी बात उन्हें कह कर वनगमन से पहले उनका आशीर्वाद और अनुमति मांगा। सब सुन कर कौशल्या तो पहले उद्विग्न हुई। वे राम को समझाने लगी कि कैकेयी चिरकाल ही उन पर इर्षान्वित रही। उस प्रकार के ईर्षालु जननी को खुश कर अनगिणत प्रजा और रिश्तेदार को दुखी क्यों करे? फिर राजा दशरथ ने मोह से अंध दशा में कैकेयी को जिस वर दी है प्रतिवाद किये विना उसका पालन करना अनुचित होगा। लेकिन राम कौशल्या की बात नहीं माना एवं बारबार उनके चरणों पर पड़ कर अनुरोध किया—माँ, पिता का वचन पूरा करने अवश्य ही मैं चौदह बरस के लिए वनवास जाऊंगा, वरना पिता को महा अकल्याण होगी। वचन पूरा न करने से महा पाप होता। मेरे सुख के खातिर मैं पिताजी को उस पाप करने नहीं दुंगा।'' अतः कौशल्या ने अनुमति दे दिया।

उसके बाद जननी सुमित्रा का भी आशीर्वाद ले कर रामचन्द्र पत्नी सीता से विदा लेने को अपने कमरे में गए। राम का प्रस्ताव सुन कर सीता पहले हतवाक हुई, लेकिन अंत में जब वे समझी कि रामको रोका नहीं जाएगा तो वे कही—''अगर तुम वनगमन करने का निश्चय किए हो तो मुझे भी साथ लेना होगा।'' सीता की बात पर राम कुछ घबराकर कहा—''मैं जिस वन में जाऊँ उसमें भयानक जानवर रहते। वहाँ हर कदम पर आफत होगा। एक तो तुम रघुकुल की बधू हो, दूसरा तुम जनक राजा की लाड़ली राजपुत्री हो। चौदह बरस का लम्बा वनवास तुम सह नहीं सकती। मैं कभी भी तुम्हें वहाँ ले जाने को

राजी न होऊँ।'' अव सीता गरज उठी—''यह क्या कहते हो तुम? अगर तुम इतना कापुरुष हो जिसमें पत्नी का सम्मान, मर्यादा रक्षा की शक्ति नहीं, तो तुम्हें पति चुन कर मैनें गलत की है। एक शास्त्रज्ञ व्यक्ति होने के नाते तुम्हें जानना चाहिए कि पत्नी का पति ही होता सुख-दुख का एकमात्र साथी। जंगलों में टहल कर तुमको अशेष क्लेश भुगतना पड़ेगा, इधर मैं ससुराल या मायके में आराम करुं, वह किस तरह संभव होगा? तुम्हारा किसी भी मनाना मैं नहीं मानती। मुझे तुम्हारे साथ लेना ही होगा।'' साथीओं, यह सीता कोमलता, विनय और सेवा की प्रतिमुर्ति न थी, यह थी एक वीर्यदीप्त सिंही। अतः रामचन्द्र उनको लेने को राजी हुए।

लक्ष्मण से विदा लेने का सवाल ही न था। श्रीराम जानते थे, लक्ष्मण थे उनके चिरसाथी जिसको एक मुहर्त भी अलग रहने की ईच्छा न होगी। तबभी राम का वन गमन का संकल्प सुनते ही वे गरज पड़े—''एक स्त्रैण पिता के आदेश पर वन जाना अनुचित है। इसके पीछे भरत की दुरभिसंधि काम करती है। राजा का ज्यैष्ठपुत्र तुम हो, सुतरां युवराज रूप में अभिषिक्त होने का अधिकार केवल तुम्हारा है। अतः लाखों प्रजा को दुखी कर और माता कौशल्या तथा सुमित्रा को रूलाकर तुम्हारा यह वनगमन अनुचित है।''

लक्ष्मणको तिरस्कार कर रामचन्द्र कहा—''पिता दशरथ को स्त्रैण गिणना और भाई भरत पर संदेह रखना तुम्हें शोभा नहीं देता। लक्ष्मण, तुम्हें अनेक गुण है। पर तुम्हें मुझ पर इतना प्रेम है कि मेरा न्युनतम दुख-कलेश भी तुम मानने को प्रस्तुत नहीं। मेरे वनवास क्लेश की चिंता से खफ़ा होकर तुम हिताहित का ज्ञान लगभग खो चुके हो। अब शांत हो जाओ। अपने माता सुमित्रा का आशीर्वाद ले आओ। विलम्ब किए बिना कल सुबह पिताका वचन पूरा करने को हम वन जायेंगे।'' रामचन्द्र के आदेशसे लक्ष्मण अपने माता सुमित्रा के चरणतले हाजिर हुए। लेकिन सब सुन कर सुमित्रा विंदुमात्र विचलित न हुई, वरंच वे लक्ष्मण को आदेश दे दी—''तुम बिलकूल बेफिक्र रहना। वैसे तो तुम हमेशा ही एक छाया की भाँति राम के पास रहते हो। वनवास के दौरान तुम राम को न केवल बड़ा भाई, पिता जैसे भक्ति करोगे, और सीता को अपने माँ जैसे देखोगे। मुझे यकीन है, उन दोनों के अपार स्नेह और तुम्हारी अकुंठ सेवा से तुम्हारे वनवास जीवन में आनन्द और सुख मिलेगा।''

रामके वनगमन के संवाद फैलते ही अयोध्यावासीओं हाय हाय करने लगे। सब बोले, अब हम रामहीन अवस्था में अयोध्या में नहीं वसेंगे। उनके साथ हम भी बनवासी होंगे। रामचन्द्र उनको मनाया, पर वे नहीं माने। अनेक लोग रामचन्द्र के साथ चले।

साथीओं, उपरोक्त घटनाओं से हमारे जानने और सीखने के अनेक विषय है। पहली बात, जिस महान लोक-संग्रह का व्रत पालन करने भगवान रामचन्द्र आविर्भूत हुए थे, वह आसान नहीं था। पत्नी के साथ सुख का जीवन काटने से उस व्रत का पालन न होता। अवतारों के जन्म और जीवन दिव्य होते। उनके लोकोद्धार का व्रत भी विघ्नभरे होते। तभी तो संसार का सुख छोड़ कर रामचन्द्र वनवास करने चलें। दूसरी बात, पुत्र बालिग होने पर सारे जिम्मेदारी उसे देकर पिता को वाणप्रस्थ आश्रम लेना चाहिए। अधिकांश पिता और

अभिभावक आज इस आदर्श भूल बैठे हैं। इस संदर्भ में एक घटना की याद आयी। प्रचारमण्डली के साथ मैं सौराष्ट्र का मोरवी राज्य की राजधानी पहुचा था। शहर में हमारे शास्त्र व्याख्या के अनुष्ठान चल रहा था। मोरवी के राजा तब पचहत्तर बरस के थे। उनके पचपन बरसे के ज्येष्ठपुत्र एकदिन हमारे वहाँ पधार कर शिकायत किया—''स्वामिजी, मेरे पिता का अनाचार देखिए। इस प्रवीण बयस के होते हुए भी वे गद्दी पर बैठे हैं, और मुझ पर एक भी जिम्मेदारी छोड़ना नहीं चाहते।'' आजके एक वर्ग के पिता और अभिभावक की मानसिक स्थिति किस प्रकार के है, इस घटना से हम उसका अंदाजा लगा सकते। 'पंचाशोर्द्ध वनं ब्रजेत्' आज केवल शास्त्र में ही रहा है।

तीसरी बात, असत् संगत सेहतमंद मनुष्य को किस प्रकार अस्वाभाविक तथा विकृतमस्तिष्क कर देता वह हम कौकेयी का दृष्टांत से जान पाते। मंथरा का चरित्र हमें सीखाता है नारी दो प्रकार की होती : विद्या और अविद्या। अविद्या-स्त्री कितना सर्वनाश कर सकती मंथरा उसका उदाहरण है। चौथी बात, दशरथ बहु गुण के आधार होते हुए भी बहु पत्नी के पति थे, एवं कैकेयी पर अति-आसक्ति उनको कितना निम्नगामी किया और उससे परिवार को कितना सर्वनाश झेलना पड़ा जिनके कारण था दशरथ का गलत आचरण। पांचवी बात, सीता का चरित्र केवल विनय और कोमलता से ढका नहीं था, उसमें था तेजस्विता तथा कमनीयता का एक अनोखा समन्वय।

साथीओं, रामचन्द्र और लक्ष्मण वनवास चलें। उनके शरीर पर राजवेश की जगह था भिखारी का वेश। सीता अपने इच्छा के बावजूद, गुरुजनों के उपदेश पर अपना वेश बदल न सकी। सारे दिन चलने के अंत में संध्या में वे नगर की सीमा पहुँचे। रात को जमीन पर सोना पड़ा। प्रिय पत्नी का जमीन पर सोना राम को निदारुण दुखित किया। किसी भी उपाय से वे मनको शांत कर न साका। एकवार स्वगत रूप से कहा—''भरत, तुम्हारी वजह से मेरी सीता के यह वनवास का कष्ट, पर मैने तो तुम्हें कभी भी दुख न दी थी। तो क्यों तुमने तुम्हारी माता के साथ षड्यंत्र कर हमारे सुखी परिवार में अशांति की आग लगायी!'' लेकिन मुहूर्त में ही वे संयत हो कर सोचने लगे—''मैं क्या उल्टपुल्ट सोचता हूँ। भरत पर मेरे संदेह कितनी बेवजह है।''

श्रीरामचन्द्र के जीवन में मानव भाव की यह एक स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति है। इसी लिए कहा जाता है, रामचन्द्र थे एक आत्मविस्मृत अवतार। वे अपने कर्तव्य और जिम्मेदारी पर चिरकाल थे सजग और सचेत। लेकिन कभी कभी निदारूण संकट और क्लेश-क्लांति में मुहूर्त के लिए आप को खो वैठते। भरत पर रामचन्द्र का मनोभाव चिरकाल ही अम्लान रहा। वनवास यात्रा से पहले भरत पर बेवजह संदेह के कारण वे लक्ष्मण को तिरस्कार किए। पर हम अब रामचन्द्र को भरत पर उसी संदेह करते देखा। इससे यह लगता है कि वे कभी कभी मुहूर्त के लिए आत्मविस्मृत होते थे। लेकिन इन सबमें उनका चरित्र का एक अनुपम माधुर्य नज़र आता। मैनें इतिपूर्व कहा कि श्रीकृष्ण का चरित्र का अनुकरण करना संभव नहीं है क्योंकि वे सर्वदा ही अतिमानव दैव सतह पर रहते थे। लेकिन राम चरित्र की मनवीय

हमदर्दी के लक्षणों की वजह हम केवल भगवान नहीं, एक आदर्श मनुष्य-रूप में भी उनका अनुकरण करना चाहेंगे।

अब हमसफ़र अयोध्यावासीओं के अनजाने में रामचन्द्र सारथि सुमंत को रथ चलाने का आदेश दिया। उस तरह चतुराई से उनसे विदा लेकर वे द्रुत गंगा के किनार पहुँच गये। अत: सुमंत को समझा-बूझा कर वापस भेज दिये। सामने थी सीमाहीन नहीँ। नदी पार करने का नाव का खेवैया था गुहक चंडाल। उससे मित्रता कर रामचन्द्र नदी पार का उपाय कर लिए। गुहक से यह समझौता हुई कि वह नदी पार कर देगा, जिसके एवज एक स्वेवैया के रूप में रामचन्द्र उसको संसार-सागर पार करा देंगे।

साथीओं, रामचन्द्र जब एक मित्रके रूप में गुहक के गले मिल रहे थे लक्ष्मण उन्हें रोक कर पुछे, गुहक जैसा अशिक्षित, अभव्य आदमी से मित्रता का क्या लाभ है? रामचन्द्र ने जवाव दिया—''लक्ष्मण, उसके ग्रामीण भाषा और बेश से गुहक का विचार करना ठीक नहीं। सरलता और भावभक्ति से उसका मन भरा हुया है। वह जैसे लोग ही मेरे मित्र बनने के योग्य है।''

गुहक-उद्धार की कहानी पढ़ या सुन लोग प्रेम का अश्रु बहाते हैं। लेकिन उस कहानी से हम यह शिक्षा न लेते कि जिस रामचन्द्र को देवता मानते हैं और युग युग से जिनकी पूजा भी करते आये है, वे पतित जनों के उद्धार-कर्ता भी थे। जातिभेद का अहंवोध को उन्होंने कभी भी जगह नहीं दी। श्रीराम के जीवन की इस शिक्षा न लेने का नतीजा उन्हींके देश के लाखों करोड़ों लोगोंको अस्पृश्य कह कर दूर हटाए हैं और वे किसी और धर्म लेकर हमारी जन्मभूमि को तीन टुकड़ा कर हमारे और उनके अपने का न-पूरनेवाला नुकसान कर रहे हैं।

साथीओं, श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण अब भरद्वाज मुनि के आश्रम पहुँचे। मुनिवर उनसे परिचित हुए और उपयुक्त सेवा-सत्कार के अंत में कहे—''आप लोग चोदह बरस मेरे आश्रम में रहने से मुझे आनन्द होगा।'' मुनिवर का उस प्रस्ताव अस्वीकार कर रामचन्द्रने कहा—''इस जगह अयोध्या के पास ही है। हमारे रहने की खवर फैलते ही हमें घर वापस लेने को अयोध्यावासीओं यहाँ आ पहुँचेंगे। चौदह वरस के अंत वापस यात्रा में यदि संभव हो हम आपके साथ कुछेक दिन बीताने का आनन्द लेंगे।'' अब वे चित्रकूट की ओर चलें। चित्रकूट पहाड़ की शोभा और निर्जनता उनको पसंद आयी और वे वहाँ कुछ दिनों ठहरने का तय किए।

साथीओं, अब हम अयोध्या की ओर देखते हैं। श्रीरामचन्द्र की विदा के बाद अयोध्या के बाशिन्दे मुरझा गये। राम से जुदाई का दुख से राजा दशरथ का निधन हुया। राम के वनगमन की खवर सुनाये विना दूत ने समझा-बूझा कर भरत को अयोध्या ले आया। दूर ही से अयोध्या का चुपचाप, मुरझा हुआ हाल देख कर भरत का मन दबगया। अनायास ही उन्होंने भाँप लिया कि उनकी गैरहाजिरी के दौरान अवश्य ही अयोध्या पर एक महा विपद आया। सबसे पहले राणी कौशल्या के पास जा कर उनके पदवंदना करते ही उन्होंने नाना

प्रकार के निंदा की और कही—"भरत, तुम्हारा मनस्काम पूरा हुया है। रामको वन भेजने के पश्चात तुम और तुम्हारी माता कैकेयी मिलकर अब निष्कंटक राज्यसुख का आनन्द लो।" आशीर्वाद की जगह तिरस्कार पा कर भरत को निदारुण क्षोभ और दुख हुया। जो कुछ हुया वह पूरा सुन कर वे कैकेयी के पास गए। अपने संतान के आने की खवर से आनन्दित कैकेयी जब भरत को आलिंगन करने को आगे बढ़ी तो क्षुब्ध भरत गरजा—"तुम जैसी माँ का आदर मुझे विष लगता है। रामहीन अयोध्या में मैं एक मुहूर्त भी रहना नहीं चाहता। मुझे राजपद पर अभिषिक्त करने का तुम्हारा अभिसंधि मैं कभी भी साकार होने नहीं दूंगा। मेरे अनजान में दासी की मंत्रणा पर तुमने जो महा अपराध की वह वाकई माफ़ होने लायक नहीं है। कल सुबह मैं बड़े भाई को अयोध्या वापस लाऊँ।"

साथीओं, रामायण पाठ तथा सुनने से श्रीराम का महत्वा आपको छा जाता है। लेकिन भरतचरित्र की उदारता और महानुभाविता, उनका आत्मत्याग का महान आदर्श कितने को प्रभावित करता? इन दिनों जब आम लोग एक-दो विघा जमीन या दो-चार हजार रुपये का लालच के मारे भाईको ठगाने को उतारू होते, बल्कि उसकी हत्या करने भी हिचकिचाते नहीं, उस जगह भरत एक विशाल साम्राज्य का अधिकार अनायास त्याग कर वनवास के क्लेश स्वीकार करने को प्रस्तुत है! भरत का यह त्याग वाकई असमान्य है। उनके त्याग का मात्र एक कण भी अगर हमारे भाई और बहनों अपनाते तो उनके जीवन धन्य हो जाता।

अब भरत चल पड़े बड़े भाईया के खोज में। श्रीराम के रहने की जगह से संबंधित जानकारी लोगों से ले कर वे चित्रकूट पर्वत के किनार पहुँचे। उनके साथ थे उनके तीन माता, पात्र-मित्र सहित एक विशाल फौज। राजकीय समादर से उनका अभ्यर्थना कर रामचन्द्र को अयोध्या वापस आने को राजी करने की मंशा से भरत इतने लोग लाए थे। श्रीराम दूर से देखा कि अनगिणत लोग महा शोरगुल मचाता चित्रकूट की और बढ़ रहे हैं। हजारों घोड़े के चलने का कारण आकाश धूल का बादल से छा गया। वे लक्ष्मण से बोले—"सीताको बोलो कि वे तुरंत कुटिया के भीरत चली जाए। तुम एक ऊँचा पेड़ चढ़ कर पता करो इतना बड़ा दल लेकर कौन और क्यों इस तरफ़ आ रहा।" पेड़ के ऊपर से लक्ष्मण चिल्लाया—"बड़े भाईया, भरत का रथ का झंड़ा नज़र आ रहा है। लगता है कि वह लड़ाई में हमें हरा कर, बल्कि खत्म कर, अपना सिंहासन निष्कंटक करने को आता है।" इस बार भी रामचन्द्र लक्ष्मण को तिरस्कार किया—"लक्ष्मण, तुम भरत को ठीकसे नहीं जानते। उसी कारण तुम उस पर चिरकाल बेवजह संदेह करते हो। वह हम सबको समझा-वूझा कर अयोध्या ले जाने आया है।"

इतने में भरत का रथ रामचन्द्र की कुटिया के सामने आ पहुँचा। कुटिया से दूर रथ से उतर कर भरत पैदल आगे बढ़ा और श्रीराम तथा जानकी देवी के चरण वंदना के अंत एक बालक की भाँति रोते रोते कहा—"माता कैकेयी के विराट भूल का कारण अयोध्या को सर्वनाश और आपको यह दुर्दशा हुया। बड़े भाईया, आप जानते हैं कि राज्य चलाने की योग्यता मुझमें कुछ भी है नहीं। आप से जुदाई का दुख से हम मर रहे हैं। तभी मैं

आपको वापस ले जाने आया हुँ। हमारी उत्सुक प्रार्थना मंजूर करना ही पड़ेगा। वरना हम सब उपवास कर आप ही के सामने दम तोड़ेंगें।'' पर स्थितधी श्रीरामचन्द्र अपना संकल्प से नहीं हिले। वे तीनों जननी और भरत को समझा कर शांत किया और अपने पादुका भरत को देकर कहा—''यह लो मेरी पादुका। मेरी गैरहाजिरी में इस पादुका मेरे प्रतिनिधि के रूप में आयोध्या राज्य का प्रबंधक होगा। तुम केवल मेरे निमित्तमात्र के रूप में मेरे आदेश का पालन करोगे।''

साथीओं, भरत-रामचन्द्र के मिलन का इस चित्र कितना हृदयस्पर्शी है! भरत वाकई थे रामचन्द्र के आज्ञाकारी दास। एक सेवक के रूप में त्यागव्रत अवलंबन कर वे चैदह बरस एक निष्काम कर्मी जैसे राजकार्य चलाए थे। भरत का उस निष्काम सेवाव्रत में हम कर्मयोग का एक उज्ज्वल दृष्टांत पाते हैं। वे सीखाए हैं कि किस तरह गुरुजनों के आदेश निष्काम रूप से पालन करना होता।

भाईओं और बहनों, भरत को विदा करने के बाद श्रीराम लक्ष्मणको कहा—''अब यहां रहना नहीं चलेगा। पिछले कुछेक दिनों में लोगों की भीड़ आने से इस जगह ज्यादा ही धुल-मैले से भर गयी है। चलो, हम पंचवटी की ओर चलते हैं।'' उस यात्रा के दौरान रास्ते में अनेक आश्रम और तपोवन नज़र आया। उन आश्रमों में दो-एक दिन ठहरते ठहरते वे मजिल की ओर बढ़ गए। प्रत्येक आश्रम के ऋषिओं और महर्षिओं श्रीराम के शुभागमन से आनन्दित हुए, और कहे—''हम दीर्घकाल आप ही के इंतजार में रहे। चारों ओर हड्डी के पहाड़ आप को नज़र आयगा। निरपराध तथा शांतिप्रिय ऋषिओं की हत्या कर राक्षसों अपने हत्यारा स्वभाव का इज़्हार किया है। उनकी ज्यादती से हमारी रक्षा करें।'' श्रीराम ने उनको आश्वासन दिया कि उनकी रक्षा की भरसक कोशिस करेंगे। ऋषिओं साग्रह अनुरोध किये कि श्रीराम उन आश्रम में और कुछ दिन रहे, ताकि ऋषिओंको उनकी सेवा का अवसर मिले। उस पर श्रीराम कहा—''आपके प्रस्ताव है साधु। आपकी पवित्र संगत में रहने का अवसर मिलने से हम अपने के धन्य मानते। पर हम हैं क्षत्रिय संतान, मृगया जिनके सहजात वृत्ति होती। इन शांत, धर्मरस-सिंचित आश्रमो में कितने मोर और हरिण बेफ़िक्र घुमते है। हमें डर होता कि भूल से ही उन पर तीर चला दूँ। उससे तो आश्रम की शांति भंग होगी। तो, इस कारण आपके आवेदन स्वीकार करना हमारे बस की बात नहीं।''

श्रीराम, सीता और लक्ष्मण अब पंचवटी वन पहुँचे। पवित्रतोया गोदावरी के किनार पर स्थित उस सुन्दर वन का प्राकृतिक दृश्य था अति शांत तथा मनोरम। वे तय किये कि वहाँ एक कुटिया बना कर वनवास जीवन काटेंगे। श्रीराम के आदेश पर लक्ष्मण अपने हाथों से कुटिया बनाया और वे रामचन्द्र एवं जानकी के देखभाल और सेवा में दिनरात लगे रहे। वन के फलमूल और कंद उनके प्रधान आहार्य रहा। उस छोटीसी कुटिया में उनके जीवन कुछ दिन शाति में बीता। अवकाश पाने से वे विभिन्न प्रकार के शास्त्रचर्चा और ऊँचे अध्यात्मिक विषय के आलोचना करते। लेकिन इसके बाद ही एक विपद आया। रावण की बहन शूर्पणखा उस वन में टहलते टहलते श्रीराम की कुटिया के सामने आयी। श्रीराम के

मनमोहक रूप और बलिष्ठ शरीर शूर्पनखा को मोह लिया। और वह श्रीराम से विवाह करने की इच्छा बारबार जाहिर की। श्रीराम उस बारबार ही समझाया—"तुम देखती हो कि मेरी एक पत्नी है। उसे त्याग कर कैसे मैं तुमको लूं? मेरे साथ मेरा भाई लक्ष्मण है। वह शादीशुदा है नहीं। तुम इस प्रस्ताव क्यों नहीं उसको पेश करती?" अवश्य ही यह एक परिहास था। अब वह लक्ष्मण के पास गयी। उसका प्रस्ताव सुन कर लक्ष्मण ने कहा—"मैं हूँ श्रीराम का एक दास। तुम हो लंकापति रावण की बहन। क्या तुम जैसी अभिजात परिवार की नारी को एक दास से विवाह शोभा देता? तुम और एकवार श्रीराम के पास अपना इच्छा प्रकट करो। शायद वे इसबार मान लें।"

श्रीराम पुनराय उसका आवदेन ठुकरा दिया। अब शूर्पनखा जान गयी कि अपने पत्नी के जीवित रहते राम कभी भी मुझे विवाह नहीँ करेंगे। तो वह सीता की हत्या करने को उसे आक्रमण की। अतः श्रीराम लक्ष्मण को बोला—"अब यह परिहास न रहा। देखो, अपने रक्षा के लिए सीता किस प्रकार भयभीत हुई है। इस प्रगल्भ नारी को तुम सही सबक पढ़ाओ।" श्रीराम के आदेश पर तीखा चाकू से लक्ष्मण उसका नाक कट दिया। क्षोभ, दुख और यंत्रणा के मारे शूर्पनखा अब लंकापुरी भागी। लंकापुरी मे वह भाई दशानन को अपने दुर्दशा का वखान सुनायी—"अयोध्या के दो राजपुत्र पंचवटी वन में आये हैं। उनके साथ एक परम सुन्दरी नारी भी है। उन दोनों राजपुत्र के हाथों मेरी यह दुर्दशा हुई है। तुम अगर अविलम्ब उनको सबक न पढ़ाओ तो राक्षसकुल का बचने की आशा नहीं।" बहन का लांछन और अपमान, और उसके साथीओंकी हत्या की खवर सुन कर रावण गुस्से से तमतमा उठा और कहा—"क्या, इतनी धृष्टता! मेरे राज्य के किनार में आकर मेरे ही अपने लोगों पर यह अनाचार, यह ढिठाई! हम बर्दाश्त नहीं करेंगे।" शूर्पनखा से सीता का मनमोहक रूप का वर्णना सुन रावण पहले सीता का अपहरण और उसके बाद राम-लक्ष्मण को उनके अपराध की सजा देने का निश्चय किया।

साथीओं, अब सीता-हरण की करुण कहानी। दुष्ट रावण पहले सीताको लुभाने के लिए अपना मायावी चर मारीच को भेजा। एक स्वर्ण मृग के रूप लेकर मारीच श्रीराम की कुटिया के आसपास टहलने लगा। उस अनोखा हिरण सीता को खूब पसंद आया। उनको ईच्छा हुई कि उसे पलुया बना कर रखेंगे, उससे खेलें गे। तो सीता रामसे अनुरोध की कि वे अविलम्ब उस हिरण पकड़ लें। अंतर्यामी राम अनेक बार सीता को समझाया कि हिरण सोने का नहीं होता, वह राक्षस के छल के सिवा कुछ न था। तो उसका लोभ करना ठीक न होता। लेकिन सीता मानी नहीं। अंततोगत्वा रामको हिरण के पीछा करना पड़ा। उससे पूर्व उन्होंने आदेश किया—"लक्ष्मण, तुम कुटिया छोड़ कर कहीं भी न जाना। मैं अभी आया।"

इतने में मारीच का माया रोदन शुरु हुया। श्रीराम की आवाज का हूवहू नकल कर वह लगातार चिल्लाते लगा—"लक्ष्मण, मैं खतरे में हूँ। तुम तुरंत मेरी रक्षा करो।" राम का आदेश का याद कर लक्ष्मण कुटिया छोड़ना नहीं चाहा। लेकिन व्याकुल सीता उसको भीषण फटकारने लगी—"तुम हो दुष्ट। मैं तुम्हारी हीन अभिसंधि समझ ली है। तुम्हारा तपस्या

केवल दिखावा है, पर मन में रखते हो एक घृनित मंशा। बड़े भाईया का निधन होने से तुम मुझे लेकर घर बसाना चाहते। छिः तुम्हारी दुर्बुद्धि को!''

अब लक्ष्मण का धीरज टुटा। अपने निस्कलंक चरित्र पर माता का बराबर भाभी का बेवजह संदेह! रामचन्द्र का आदेश का लंघन कर वे उनही के उद्धार के लिए दौड़े। लक्ष्मण को देखते ही श्रीरामको विपद का अंदेशा हुया। उससे सारी बात सुन कर श्रीराम समझे कि वह एक भयानक विपद का इशारा था। और हुया भी वही। एक भिखारी के भेष में रावण श्रीराम की कुटिया के दरवाजा में आ गए। अनेक विनय सहित वह बारबार सीता से भिख मांगने लगा। सीता तो पहले निरुत्तर रही। लेकिन जब रावनने अभिशाप देने की धमकी दी तो मजबूर सीता लक्ष्मण का दिया हुया गंडी पार कर ब्राह्मण भिखारी के भेषधारी रावणको भिख देने गयी। रावण मौके पर सीता को पकड़ कर रथ पर चढ़ गया। सीताहरण का काम पूरा हुया।

इस सीताहरण काण्ड में अनेक शिक्षा की बस्तु है। पहली तो, 'नियति केन वाध्यते' यानी नियति का विधान कोई भी लाँघना नहीं सकता। नरदेह लिए हुए भगवान भी उस विधान के अधीन होते। दूसरी, नारी चरित्र में अशेष गुण रहते हुए कई त्रुटी भी होती। नारीयां अलंकार पसंद करते। सोना, चाँदी, हीरा, मुक्ता इत्यादि की चाहत उनमें इतनी होती कि उन रत्नादि पाने को वे समय समय पर आत्महारा हो जाते हैं। वैसे तो सीता थी स्वयं लक्ष्मी-स्वरूपा। स्वेच्छा से विलास त्याग कर पति के साथ वनवास गयी थी। लेकिन वे भी सोने का हिरण पाने को कितनी व्याकुल हुई। उस दुर्दमनीय इच्छा उनको इतनी पागल कर दी कि एक पतिप्राण नारी होते हुए वे पति का सूझाव नहीं मानी। केवल उतना ही नहीं, परमप्रिय देवर लक्ष्ण का निस्कलंक चरित्र पर उनको हुआ बेवजह संदेह। सीता चरित्र की उस समय की त्रुटी हमें दीखाता है लोभ मनुस्य को कितना आत्महारा और विकृत-मस्तिस्क कर देता। तीसरी, दुर्धर्ष रावण शोर्य-वीर्य के लिए विख्यात थे। लेकिन आमने-सामने लड़ाई की जगह एक भिखारी ब्राह्मण के भेष मे वे सीता का अपहरण करने आए। नारी का रूप-लावण्य पुरुष को कितना कामांध कर देता! आज भी भिक्षा का छ्ल लेकर कितने ठग हमारे नारीओंको नाना प्रकार से लालची और गुमराह करते है। सीता का अपहरण काण्ड से नारीओं को सीखना चाहिए कि साधु हो या ब्राह्मण हो, विचार किए बिना किसी का भी प्रस्ताव स्वीकार करना अनुचित होता।

कुटिया में लौट कर जो दृश्य श्रीराम-लक्ष्मण देखे उससे वे न केवल हैरान हुए, निदारुण दुख से भर भी गए। सीता-विरह से श्रीराम हुए व्याकुल और बेचैन। अनाहार और उनींदी में बे किसी प्रकार से दिन काटते रहे। लक्ष्मण उनको अनेक समझाया-बूझाया। शुरु हुया सीता को खोजने का प्रयास। सीता के खोज में वे चारों ओर दौड़े। जटायु का आर्तनाद रास्ते में उनको सुनाई दिया। उसके पास जा कर जो जानकारी मिली उससे वे भाँप लिए कि लंकाधिपति रावण सीता का अपहरण कर अपने रथ पर उनको उस रास्ते से ले गए है। रोती सीता का उद्धार के लिए जटायु ने प्राणपाती कोशिश की। लेकिन अंत में रावण का तीखा वाण से घायल हो कर उसका प्राण जा रहा था। श्रीराम को सामने पा कर जटायु कुछ

ढाढस पाया और बोला—"प्रभु, मेरे प्राण के एवज मैं आपकी पत्नी का कुछ खोज दे सका और उस अवसर में आपका दर्शन मुझे मिला, यही मेरा महा सौभाग्य है।" श्रीराम जटायु को अपने प्राण से आशीर्वाद किया। भगवान के अक्षय आशीर्वाद से जटायु की परलोकगामी आत्मा तृप्त हुई।

साथीओं, रामायण में जटायु एक पक्षी के रुप में वर्णित है, पर जटायु था एक अनार्य। रामायण के युग में अनार्यों को राक्षस, पशु, पक्षी इत्यादि रूप में वर्णन किया गया था। जैसे आज भी क्रोध से या उपहास से हम किसी मनुस्य को कुत्ता, बंदर कह देते। जटायु का काण्ड में एक महान शिक्षा की वस्तु है। नारी का सतीत्व की रक्षा के लिए जटायु ने प्राण दे दी। नारी का सतीत्व का सब सभ्य समाज में ही परम आदर और मर्यादा दिया जाता। पर दुर्भाग्य का विषय यह है कि आज हमारे युवा न केवल मातृजाति को वह सम्मान देने का संकल्प त्याग दिए है, उल्टा उन्में से कई लोग बने है नारी के इज्जत लुठनेवाले। हम चाहते कि जटायु का आत्मदान का महान प्रचेष्टा उनकी ज्ञानचक्षु खोल दे।

अब श्रीराम लक्ष्मण को लेकर पुनराय सीता के खोज में चले। सामने मिला मातंग मुनि का आश्रम जहाँ भील-कन्या शवरी अपने गुरु के निर्देश पर दीर्घकाल से तपस्या कर रही थी। अपने देह त्यागने से पहले गुरु शवरी को आश्वासन दिए थे कि "वैकुंठपति नारायण मानव शरीर में श्रीरामचन्द्र रूप लेकर अवतीर्ण हुए हैं। तुम उनके इंतजार करो। मेरा आशीर्वाद है, तुम अवश्य ही एक दिन उनके दर्शन लाभ से कृतार्थ बनोगी।" गुरुके आदेश शिरोधार्य कर शवरी इष्ट-देवता के दर्शन पानेको बरसो अपने आश्रम में तपस्या करती रही। जंगल के फल-मूल इत्यादि आहार करती। खा कर जो मीठा लगता उनसे रोजाना एक जुठा फल चुन कर इष्ट देवता को निवेदन करने को रख देती। लंबी इंतजार के अंत में उसकी वासना अब पूरी होने चली। भगवान श्रीरामचन्द्र उसकी कुटिया में पधारे। उन्हें पा कर शवरी आनन्द से आत्महारा हो गयी। उनको चरणो पर साष्टांग प्रणाम कर उन्हें वह जुठे फल निवेदन की। आदर सहित उस फल आहार कर श्रीराम उसे प्राण से आशीर्वाद किया। उस दृश्य देख कर लक्ष्मण कहा—"यह क्या करते हो बड़े भैया? क्या अनार्य-कन्या के जुठे फल खाता उचित है?" श्रीराम लक्ष्मण को तिरस्कार कर कहा—"मेरे परम भक्त शवरी की निष्ठा और भक्ति तुम समझते नहीं। नीच कुल में जन्म लेने के बावजूद अपने सुकृत्य से वह सद्‌गुरु मातंग की कृपा लाभ की है, तया उन्हींके अपार स्नेह-वात्सल्य और शिक्षा से उसका आध्यात्मिक जीवन बना है। कई बरस वह कठोर तपस्या की है। इतने बरस वह मेरा दर्शन पाने को उत्सुक रही। आज उसकी आशा पूर्ण कर पाने से मुझे संतोष तथा आनन्द मिले हैं।"

भाईओं और बहनों, वाल्मिकी रामायण के गुहक चंडाल और शवरी के कहानियाँ कितने शिक्षादायी हैं। उस प्राचीन युग के आर्य हिन्दुओं अति उदार मनके थे। उस युग में ऋषिओं की आवाज गुंजी थी : कृन्वंतु विश्वमार्यम्' यानी सारे विश्वको आर्यत्व का शिक्षा दान करो। उसके पश्चात हिन्दु समाज में जो रुढ़िवादी धर्मांधता और कुसंस्कार दखल लिए थे उसीके नतीजे में हिन्दु समाज को अधोगति और दुर्गति हुई। हम चाहते हैं कि खराबियां

दूर हो। हमारे नवयुग में उदारचेता श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, ऋषि अरविंद, आचार्य प्रणवानन्द आदि एक श्रेणी के धर्म-गुरु के उदार, सारी दुनिया के ग्रहणयोग्य मतवाद सदीयों के बाद आशा की दिया जालायी है।

साथीओं, शवरी-उद्धार के पश्चात श्रीराम और लक्ष्मण फिर जंगल में आगे बढ़े। रास्ते में वानर राजा सुग्रीव के दूत वीर मारुति, जो महाभक्त हनुमान नाम से ज्यादा विख्यात है, श्रीराम से मिले। श्रीराम से जानकारी पाने के लिए हनुमान भेजे गए थे। चर के जरिए सुग्रीव जान गए थे कि दो रूपवान युवक धनुर्वाण हाथ में लिए उनके राज्य के चारों ओर टहल रहे थे। वे कौन होते, किस मंशा से वहाँ आये, वे बालि के चर तो नहीं हैं?—यह सब जानने को चतुर हनुमान दूत के रूप में भेजे गए थे। श्रीरामचन्द्र के दर्शन पातेही अपने जन्मातंरीण संस्कार के जरिए हनुमान उनको अपने इष्टदेवता जान गए। उनके चरण बंदन कर हनुमानने करजोड़ कर कहा—"राजा सुग्रीव एक दूत के रूप में मुझे आपके पास भेजा। जो जानकारी मैंने लाभ की उससे मुझे लगता है कि अपकी आदरणीय पत्नी के खोज में हमारे राजा सुग्रीव आपको विशेष सहायता दे सकेंगे। वे भी अपने बड़े भाई बालि द्वारा राज्य से निर्वासित हैं। अत: उनकी मानसिक स्थिति आपसे अधिकांशत: मिलती है। आप आज्ञा करें तो इसी मुहूर्त में आपको राजा सुग्रीव के पास ले चलूं।" इतना कह कर हनुमान राम और लक्ष्मण को कंधे पर लाद कर राजा सुग्रीव के पास ले चले। अग्नि साक्षी कर सुग्रीव और रामचन्द्र में मित्रता स्थापित किया गया। समझौता हुई कि मित्रता के एवज सीता के खोज में सुग्रीव रामचन्द्र को सहायता देंगे, और राज्य पुनरुद्धार में श्रीराम सुग्रीव को सहायता देंगे।

साथीओं, वाल्मीकि रामायण के पाठकों जानते हैं कि पहला दर्शन में हनुमान श्रीराम से जिस भाषा में बात किए थे वह थी देवभाषा संस्कृत। उससे प्रमाणित होता कि हनुमान एक जंगली बंदर नहीं थे। वे भले ही अनार्य वंशज रहे पर थे सुशिक्षित।

उसके बाद ही श्रीराम बालि-बध का प्रवंध किए। उन्होंने मित्र सुग्रीवको सला दिया—"आप आपके बड़ा भाई बालि को एक मल्लयुद्ध का निमंत्रण भेजिए। वह मल्लयुद्ध में योगदान करने से चलाकि करके मैं उसकी हत्या करूगा।" उस युग के राजाओं में यह रिवाज था कि मल्लयुद्ध का आमंत्रण स्वीकार करना पड़ता। बालि और सुग्रीव में एक भयानक मल्लयुद्ध शुरु हुई जो कई दिन तक चली। दोनों ही लड़ाई पटुता में बराबर थे। किसी तरह भी बालि नहीं हारता। हताशा से सुग्रीव राम से कहा—"मेरा बड़ा भाई हम से शक्तिशाली वीर है। उस से लड़ कर मैं इतना थक गया हुं कि विजयप्राप्त करना मेरे लिए प्राय असंभव है। अपना शर्त आप कब पूरी करेंगे?" श्रीराम कहा—"आप दोनों भाई के शकल प्राय एकसा है। लड़ाई के दौरान मैं कैसे आपके बड़े भाईको पहचानुंगा? तो आज के युद्ध आप एक माला पहन कर कीजिए।" सुग्रीव वही किया। एक गाछ के पीछे से तीर मार कर श्रीरामने बालि को गहरा चोट लगा दी। मुमूर्षु बालि आर्तनाद करते करते रामको कहा—"एक गाछ के आड़ से एक कापुरुष की भाँति क्यों आप मुझे तीर मारा? अन्याय वर्वरता के सिवा यह क्या है?" बालि को श्रीराम जो जवाब दिए थे उसका पुनरुल्लेख करने का आवश्यक नहीं है। बस इतना जानना ही काफी

है कि जिन लोग श्रीराम द्वारा बालि का बध करना श्रीराम चरित्र के कलंक कहते, वे हैं पूरी तरह गलत और मूर्ख भी। श्रीराम उस समय बालि को जो कहे थे उसका सारांश है 'शठे शाठ्यम्', यानी एक शठ के साथ शठता की नीति ही ठीक रहती। बालि को एक घृणित अपराधी करार दे कर श्रीराम ने कहा—"आपने बलपूर्वक छोटे भाई की पत्नी छिन लिया। छोटे भाई का राज्य भी अपने छिन ली है। अन्यायी, दुर्वृत्र रावण के साथ मित्रता कर आपने न्यायधर्म का विरुद्धाचरण की है। आप है एक प्रजापीड़क, जिस कारण से आपके प्रजागण त्राहि त्राहि आर्तनाद करते हैं। आपका संतान अंगद भी उस कारण से आपको त्याग कर सुग्रीव का शरण लिया है। आपके साथ आमने-सामने लड़ने से अनेक सैन्य का जान जाता। अत: जो मैंने की वही नीतिसंगत है। अयोध्या का राजा होने के नाते मेरा कर्तव्य होता दुष्ट का दमन, शिष्ट का पालन और न्यायधर्म को पून:प्रतिष्ठित करना।"

बालि-बध हो गया और निस्कंटक बन पुनराय राजप्रासाद में लौट कर सुग्रीव भोग-सुख करने लगे। महीनें गए, पर सीता का खोज में कुछ भी न किए। इससे श्रीराम नाराज हुए। लक्ष्मण के जरिए एक दिन श्रीराम कह दिया—मैंने शर्त पूरी की है, आप शर्त पूरी करने हिचकिचाते क्यों? अपना गलती मान कर अब वर्षा ऋतु के अंत में सुग्रीव अपने सभासद और अनुचरों को सीता के खोज पर भरसक उद्यमी होने कहा। चरोंको निर्देश के लिए उन्होंने जो भौगलिक विवरण दिए थे उससे पता चलता कि उस समय के सौ-सौ राज्य की सीमा और उनमें वहती नदीओं पर सुग्रीव विशेष तजरबकार थे। खोज करके चरों को जो जानकारी मिली उससे पता चला कि सीता उस समय रावण का लंकापुरी में थी। दुर्लंध्य सागर पार कर सीता का खोज और उद्धार किस उपाय से संभव हो यही सोच-विचार का विषय बना। बुद्धिमान और चतुर जांबवान ने कहा—"उस दुस्तर समुद्र पार करने की क्षमता केवल मुझमें और हनुमान में है। मैं प्रवीण बयस का हूँ, तो इस काम अब हमसे संभव नहीं है। हनुमान ही इस काम के योग्य है।" जांबवान का प्रस्ताव सुन कर हनुमान ने जवाब दिया—"मैं हूँ दीन-हीन, लगता नहीं हमसे इस काम संभव होगा।" जांबवान समझे कि हनुमान तब आत्मविस्मृत थे। तो पूर्व जनम का याद वापस लाते ही वे उस काम पर लग जाएंगे। अत: जांबवान हनुमान के सामने उनके पूर्व जीवन की घटनाओं के ज़िक्र करने लगे—"हनुमान, क्या तुम पवन-पुत्र न हो, जो जन्म लेते ही एक छलांग मार सूर्यदेवको पकड़ने चले थे? तुम थे शौर्य-वीर्य की प्रतिमूर्ति। श्रद्धा, विनय और भक्तिभाव के साधना करते करते तुम खुदको इतना दीन-हीन मानने लगे? अध्यात्मक्षेत्र में तुम अपने आराध्य देवता श्रीराम के एक दीन सेवक अवश्य हो। पर भूलो मत, उन्हींके प्रिय कार्य करने का संकल्प लेते ही तुम में शेर की शक्ति संचारित होगी।" जाबंवान के उपदेश सुनते ही हनुमान को आत्मस्मृति वापस आई। वे अपने प्रभु के आदेश पालन करने को दृढ़संकल्प हुए और अनायास ही उस दुस्तर सागर पार कर लंकापुरी में उतरे।

साथीओं, वीर हनुमान की आत्मविस्मृति और जाबंवान के उपदेश से आत्मस्मृति वापस आने की घटना से हम एक महान शिक्षा पाते हैं। साधारणत: मनुष्य अपने हृदय में

सोती शक्ति का परिचय न पाने का कारण खुद को दीन-हीन मानता। पर, सद्‌गुरु की कृपा तथा प्रेरणा से आत्मस्मृति का जागरण होते वह नया वीर्यसे उद्दीप्त हो कर असाध्य काम भी कर लेता। कुरुक्षेत्र युद्ध में अवतीर्ण होने से पहले महावीर उर्जुन भी उसी प्रकार आत्मविस्मृत और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुये थे। अपना उस कमी का जब वे एक अन्य रूप में व्याख्या करने लगे तो श्रीकृष्ण के तिरस्कार से उस क्लीवता और बुद्धि की कमी किस तरह दूर हुए वह हम गीतापाठ से जान पाते। हिन्दुभी आज उसी प्रकार आत्मविस्मृत है। प्राचीन महिमा का गर्व आज प्राय कुछ भी न है। इस दुर्दिन में हिन्दु की आत्मशक्ति के जागरण के लिए उपयुक्त निर्देश का आवश्यक है।

साथीओं, हनुमान लंकापुरी के अशोकवन पहुँचे जहा सीतादेवी मैला कपड़ा पहने सर झुकाए एक गाछके नीचे बैठी थी। पति के विरह से वे थे कातर और मृतप्राय। रावण के अनुचरों दूर चले जाने पर वे अकेले रही। उसी अवसर पर हनुमान उनके सामने हाजिर होकर उनको प्रणाम किया और कहा—"माता, आप मुझे जानते नहीं। पर मैं हूँ आपके पति का भृत्य तथा सेवक। उन्हींके आदेश पर आपके खोज में मै आया हूँ। आपके चरणो में मेरा निवेदन है कि बंदी स्थिति में आप राक्षसपुरी में न रहें। जिस तरह आप पति के विरह से कातर हैं उसीतरह आपके पतिदेव भी आपके विरह से व्याकुल है। आप मेरे कंधा पर चढ़ जाएं, मुहूर्त में सागर लांध कर मैं आपको आपके पति के पास पहुँचा देता हूं।"

बंदी सीता के पास भागने का मोका हाजिर था। चाहने से वे उसी मुहूर्त हनुमान के कंधा पर सवार हो कर पति के पास पहुँच सकती। पर सीता हनुमान का सलाह ठुकरा कर कह दी—"तुम हो एक परपुरुष। मैं तुम्हारा अंग छूऊंगी नहीं।" सीता के मन में विश्वास दिलाने के लिए रामद्वारा भेजे गए अँगुठी दिखा कर हनुमान ने कहा—"माता, आपके पति की अँगुठी मैं लाया हूं। मैं आपके प्रभु का दास हूँ, सुतरां मैं आप का संतान हूं। एक जननी अगर संतान का अंग छूती तो वह अन्याय क्यो होगा?" अव सीता बरस पड़ी—"मैं हूं श्रीराम की पत्नी। मेरे पति है एक महा वीर। उनकी पत्नी होते हुए मैं राक्षसपुरी से भाग याऊँ? पापमति दशानन छलना द्वारा मेरा अपहरण कर यहा लाया है। उसने मेरा उंग भी छूया है। केवल मैं नहीं, और भी अनेक हतभागी यहा बंदी अवस्था में है। उन्हें उस स्तिति में छोड़ कर खुद मुक्त होना मेरी पसंद नहीं। तुम अपने प्रभु से कहना, उनमें शक्ति हो तो यहाँ आ कर मेरा उद्धार करें। मैं चाहती कि मेरें आंखो के सामने इस पापपुरी जल कर खाक हो जाए। अत्याचारी रावण का पूरा खानदान की कतल हो। तब ही आनन्द सहित अपने पतिदेव के साथ चलूं, वरना नहीं।"

साथीओं, जानकी की इस तेजदृप्त वाणी पर गौर कीजिए। वह अपने लांछना का प्रतिकार चाहती और उत्याचारी का निधन चाहती। आज हमलोग मुक्के खा कर मुक्के हजम करने का आदी हुए हैं। सौ अपमान और लांछना भी प्रतिकार की इच्छा नहीं जगाती। क्या यह जीवित प्राणी का लक्षण होता? जीबित प्राणी में आघात का जवाब देने की इच्छा होती। तो हम जीवित अवस्था में ही मर चुके जिस कारण हमारा यह दुर्दिन है। हम चाहते, जननी

सीता का दृष्टांत से हमारे भाईओं और बहनो में अन्याय का प्रतिकार लेने का दृढ़ संकल्प जागृत हो।

हनुमान समझ गए कि उनके प्रभु की पत्नी एक दुर्वल नारी नहीं, बल्कि है तेजस्विता की प्रतिमूर्ति। उन पर किए गए अपमान और लांछना के प्रतिकार के बिना उनको चैन नहीं मिलेगा। तो हनुमान तय कर लिया कि अकेला होते हुए भी जानकी की एक इच्छा पूरा कर ही वे स्वदेश लौटेंगे।

साथीओं, आप जानते हैं इसके पश्चात हनुमान किस तरह लंगूल की आग से लंकापुरी जला दिए थे। अब चतुर हनुमान को लगा, लंका छोड़ने से पहले क्यों न पता की जाए कि यहाँ कोई ऐसा इनसान है जो मेरे प्रभु का लंकाविजए में मदत कर सके। रावण का भाई विभीषण से उनका परिचय हुया। बातों बातों में हनुमान जान गए कि विभीषण थे रावण का महा विरोधी और श्रीराम का असामान्य भक्त। विभीषण से मदत का आश्वासन पा कर हनुमान स्वदेश लौट आए। सीता के लंकापुरी में रहने की खबर पा कर श्रीराम लंका अभियान का प्रवंध में लगे। पर सामने था विशाल लहुरों से अविराम क्षुब्ध सागर की बाधा। तो एक पुल बाँधना आवश्यक हुया। सुग्रीव के आदेश पर उनकी वानर वाहिनी उस काम में पूरी शक्ति लगाई। उस पुल बाँधने में छोटी छोटी गिलहरिओं की मदत भी विख्यात है। यानी भगवान के कामों में छोटे बड़े सबके योगदान का अधिकार स्वीकृत हुया।

ग्रामीण कहावत है 'घर का शत्रु विभीषण'। विभीषण अपना भाई रावण तथा उस परिवार के विरूद्ध थे, पर वे थे राम पर निष्टावान भक्त। उन्होनें रावण को अनेक समझाया कि सीता वापस दी जाए। लेकिन पापमति उस सलाह मानने के विपरीत कठोर से कठोतर होते चला। अतः विभीषण श्रीराम के पास आए। सीता का अपहरणकारी दशनन के भाई होने के नाते राम के साथीओं उनको श्रीराम से मिलने देने को हिचकिचाये। मगर विभीषण के आने की खबर पाते ही श्रीराम तत्काल उनसे मिलने का अनुमति दे दिया। उससे दोनों की मैत्री दृढ़ हुई। लंकापुरी में प्रवेश से संबधित पूरी जानकारी रामको देकर विभीषण लंका में लौटे। लंका वापस चलने से पूर्व, जिस तरह के शर्त श्रीराम सुग्रीव को दिए थे, उसी तरह के शर्त विभीषण को भी दिया—"अगर रावण का बध में आप मेरी मदत करें तो मैं आपको लंका का राजा अभिषिक्त करूंगा।"

अपना दल के साथ श्रीराम लंका पहुँचे। उनके लंका पहुँचने के साथ साथ ही घमसान लड़ाई शुरु हुई। उस युद्ध का विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है। रावण एक एक कर अपने सेनापतिओं को लड़ने भेजे और उन सबके सब निधन हो गए। अब रावण-पुत्र मेघनाद से विशाल लड़ाई की तैयारी होने लगी। रावण थे शिव का वर से अजेय। रावण का पुत्र इंद्रजित भी इंद्र का वर से अजेय था। अगर वह 'निकुंभिला' यज्ञ कर लेता तो किसी में भी उसे बध करने की शक्ति न होती। उस जानकारी पा कर राम के आदेश पर लक्ष्मण उस यज्ञस्थल गए जहाँ मेघनाद उस यज्ञ कर रहा था। उस स्थिति में ही उससे लक्ष्मण का घोर युद्ध हुया, जिसमें मेघनाद निधन हुए। रावण का मझला भाई कुंभकर्ण पहले ही निधन हो चुके थे। अब लड़ाई शुरु हुई खुद दशानन के साथ। लड़ाई शुरु होने से पहले पुत्रशोक के कारण गुस्से से तमतमा

रावण ने शक्तिशैल मार कर लक्ष्मण को जो गहरा चोट लगा दी उससे लक्ष्मण का प्राण जाने का खतरा हुया। वे लंबे अरसे तक मूर्छित रहे। उस खबर सुन कर श्रीराम मुरझा गए। इधर चिकित्सक के निर्देश पर हनुमान विशल्यकरणी लाने को दौड़ा। विशल्यकरणी न पहचानने का कारण हनुमान एक पूरा पहाड़ उठा लाया। रास्ते में उनसे भरत का परिचय हुया। विशल्यकरणी का उपचार से लक्ष्मण का होश पावस आया। अब रामचन्द्र समझ गये कि शिव का वरदान से अजेय रावण का बध करने के लिए दुर्गामाता का आशीर्वाद आवश्यक है। तो वे देवी दुर्गा का अकाल बोधन करने लगे। १०८ नील कमल लेकर श्रीराम पुजा करने बैठे, पर अंजलि देते समय देखा गया एक कमल कहाँ खो गया है। श्रीराम अनुभव किए कि उनकी भक्ति का परीक्षा लेने वह दुर्गा माता का एक छल ही था। पर भगवान का अवतार श्रीराम थे दृढ़संकल्प। पुजा का आसन त्याग करना उनको नापसन्द था। याद हुया कि लोग उनको कमल-लोचन कहते। संकल्प पूरा करने वे धनुर्वान उठाए ताकि एक आंख उखाड़ कर माता को निवेदित की जाए। श्रीराम की अपार भक्ति तथा दृढ़ संकल्प-निस्ठा देख कर माता दुर्गाको संतोष हुया और वे उनको आशीर्वाद कर दी। एक भिखारी का भेष में हनुमान रावण का मृत्युवाण जुट लाए। अब रावण का जीवन की आशा न रही। श्रीराम के हाथो उनका निधन हुया। लंकापति रावण के निधन के साथ लंका श्रीराम के अधिकार में आया। श्रीराम विभीषण को लंका पर अधिकार दे दिया।

अतः श्रीराम की स्वदेश यात्रा। विभीषण और सुग्रीव और कुछ दिन लंका में रहने श्रीराम से प्रार्थना किए। पर श्रीराम थे दृढ़-संकल्प। वे कहे, चौदह बरस होनेवाला ही था। अगर वे उस समय पूरा होते ही अयोध्या न लौटां तो भरत उपवास कर देह छोड़ देगा। उल्टा, श्रीराम सबको उनके हमसफर होने को कहा।

सीता को ले आने श्रीराम के आदेश पर विभीषण लंका गए। यात्रा के पूर्व श्रीरामने विभीषण को आदेश की कि सीता को सुन्दर वेशभूषा पहना कर लाना होगा, क्योंकि लाखों लोग सीता का दर्शन करने को व्याकुल थे। पर सीता उस प्रस्ताव नहीं मानी। वे मलिन वेश में ही पतिदेव के पास आयी। एक रथ पर सीता आ रही थी। दूर से श्रीराम ने आदेश की, अब सीता पैदल आगे आएगी। क्यों कि चारों और हजारों नरनारी उन्हें देखने को उस्तुक थे। इधर श्रीराम का चेहरा बदलने लगा। सीता जितना नजदीक आयी श्रीराम उतना ही गंभीर होने लगे। सीता प्रणाम करते ही क्षोभ से श्रीराम कहे—''सीता, तुम्हारा उद्धार का काम पूरा हुया है। तुम एक साल रावण के घर में थी। रावण तुम्हारा अंग छूया था। लोग कहने लगे है कि तुम्हारा चरित्र अब कलूषित है। इसी कारण मैं तुम्हें ले नहीं सकता। अब तुम विभीषण, सुग्रीव या अंगद के साथ रहो। तुम रघुकुल की बधू होने के नाते तुम्हारा उद्धार करना मेरा एक पवित्र व्रत और महान कर्तव्य रहा। अब उस काम हो चुका है। अब तुम तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलफिर सकती।''

भाईओं और बहनों, श्रीराम की बातें सुन कर सीता की मानसिक स्थिति किस प्रकार हुई उसका अंदाजा आप कर सकते हैं। कुछ देर शांत रह कर उन्होंने तेजभरी आवाज से कही—''रावण जब मेरे केश पकड़ कर, रथ में चढ़ा कर ले गया, उस समय मैं असहाय

थी। वाकई मैं एक साल लंकापुरी में थी। पर, अगर तुम अंतर्यामी हो तो वहाँ मैं किस प्रकार का जीवन काटी थी वह जानकारी तुम्हें होना चाहिए। तब भी मेरे चरित्र पर लोगों को संदेह हो, और उसकी पुष्टि तुम करो, तो आदेश करो, तुम्हारे सामने आत्महत्या कर मैं अनिच्छाकृत पाप का प्रायश्चित्त करुंगी। मगर तुमसे मेरा एक प्रश्न पूछना है : रघुकुल का अधीश्वर होते हुए कैसे तुमने कह दिया कि यद्यपि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ तबभी मैं विभीषण, सुग्रीव या अंगद जैसे परपुरुष के साथ बाकी जीवन काटुं? इस प्रस्ताव तुमने कैसे अपने पत्नी के सामने रखा? इसका जवाब तुम्हें देना ही पड़ेगा।'' सीता का हृदय अब पत्थर से भी कठोर था और उनकी आवाज में था वर्ज्रनिनाद। सारे कोमलता त्याग दे कर वह थी तेजस्विता की प्रतिमूर्ति।

भाईओं और बहनों, सीता चरित्र की तेजस्विता और दृढ़ता पर विशेष कर ध्यान दीजिए। इस पहलू पर आज अधिकांश मनुस्य ही ध्यान देने में अक्षम और उदासीन भी। शास्त्र कहता है, आदर्श चरित्र होता : 'वज्रादपि कठोराणि, मृदुणि कुसुमादपि' यानी वज्र से कटोर मगर जरूरत पर फुल से भी कोमल। श्रीराम और सीता के चरित्र में इन दोनों गुण का समन्वय पाया जाता।

साथीओं, संशयी मन में प्रश्न उठता है, श्रीराम अगर भगवान का अवतार हो तो सीता का चरित्र पर वे संदेह क्यों रखते? इस प्रश्न का जवाब में हम कहेंगे : श्रीराम अपना हृदय से विश्वास करते कि उनकी पत्नी थी चिरशुद्धा तथा अपापविद्धा। एक बरस रावण के घर में रहने के बावजूद पाप उनको छूया तक न था। पापमति रावण बलपूर्वक अपहरण करते समय उनका अंग छूने के बावजूद वह सीताका अनिच्छाकृत अपराध गिने जाने लायक न था। हाँ, सीता का विशुद्ध चरित्र को दुनिया के सामने और भी उज्वल रूप में प्रस्तुत करने की मंशा से श्रीराम उनकी सतीत्व का परीक्षा लेने चाहा। वस्तुत: उसीकारण से सीता का अग्नि-प्रवेश हुया। जलती आग की शिखा में सीत दास्विल हुई। उल्टा सीता की अनोखा सतीत्व के तेज के सामने आग का तेज धीमा हो गया। आग उनको छू न सकी। उस परीक्षा उत्तीर्ण हो कर सीता दुनिया के सामने प्रमाणित कर दी, वे थी चिरशुद्ध तथा चिरपवित्र।

माताओं और बहनों, सीता की सतीत्व का तेज देख कर आप भी अनुभव करें की सीता न केवल पुजा या अर्चना की पात्री थी। उनका चरित्र का इस पहलू भी अनुकरण की वस्तु थी।

साथीओं, श्रीराम के आदेश पर अब अयोध्या लैटने का प्रवंध किया गया। विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, अंगद, हनुमान इत्यादि अनुचर सहित श्रीराम, लक्ष्मण और सीता आकाशयान पर सवार हुए। रास्ते में पहला वे ऋषिवर भरद्वाज के आश्रम में उतरे, पहले दिए गए वचन पूरा करने। यहाँ से हनुमान अयोध्या भेजे गए, भरतको उनके आनेकी खबर देने। पर अयोध्या में हनुमान भरत से आलाप-आलेचना में इतना डूब गए कि हनुमान श्रीराम के पास लौटने से पहले श्रीराम का विमान अयोध्या आ पहुँचा। उनके सादर अभ्यर्थना के लिए पात्र-मित्र सहित भरत, शत्रुघ्न, गुरु वशिष्ठ, जननी कैशल्या, सुमित्रा इत्यादि आ गए। विमान से उतर कर श्रीराम पहले गुरुजनों के चरण बंदन किया। तत्पश्चात वे कैकेयी

के निवास गए। उनको प्रणाम कर श्रीराम कहा—''माँ तुम कुछ भी अनुतापित या दुखी न होना।'' तुम मेरी आदरणीय माता और मैं हूँ तुम्हारा सेवक संतान। मेरा वनगमन था नियति का अलंध्य विधान। उससे सर्वनियंताने राक्षसकुल का विनाश किया और दक्षिणावर्त में महत आर्य संस्कृति का प्रचार तथा प्रतिष्ठा हुआ। अब प्रसन्न वदन होकर तुम मुझे आशीर्वाद करों।''

उधर श्रीराम शत्रुघ्न को विभीषण, सुग्रीव अदि आदरणीय अतिथिओं के उपयुक्त सेवा-सत्कार का आदेश दे रखे थे। उस विषय उन्होंने कहा—''मैं अपना घर में वापस आया। मेरी सेवा की कोई जरूरत नहीं। विभीषण, सुग्रीव, नील, अंगद इत्यादि हैं मेरे परम हितैषी भक्त। उन्हींके अशेष सहायता से मेरे पुण्य लोक-संग्रह व्रत उद्यापित हुया है। मैं हूँ उनके अशेष ऋणी, तो उनके सेवा में ही मेरा परम आनन्द है।''

साथीओं, श्रीराम-चरित्र का इस पहलू कितना ही मधुर और शिक्षाप्रद है। श्रीराम थे अशेष गुणों के आधार। वे थे आश्रित-वस्तल तथा बंधु-वत्सल और सेवा-सतकार की प्रतिमूर्ति।

अयोध्या नगरी पुनराय उत्सव का साज में सज गई। घर घर में विजय का झंडा फहराने लगा। राजपुरी के विभिन्न जगह में सुन्दर तोरण बने। श्रीराम का पुनराय राज्याभिषेक का विशाल प्रवंध किया गया। राजा दशरथ का जिस संकल्प अधूरा था चैदह बरस के बाद वही पूरा होने चला। श्रीराम के अनगिणत प्रजाकुल आनन्द से भर उठे।

श्रीराम सोनेका सिंहासन पर बैटे, उनके पास बैठी लक्ष्मीरूपी सीता। लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों तरफ से चामर व्यजन करते रहे। राजपुरोहितों वेदमंत्र उच्चारण करते थे। लाखों नर-नारी श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक का दृश्य देख कर आनन्दित हुए। भरत का तपस्या भी पूरा हो चुका था। श्रीराम के निर्देश शिरोधार्य कर उनकी पादुका का पुजा सहित लंबी चैहद बरस राज्य चलाने की जिस बड़ी जिम्मेदारी भरत ने ली थी, उस व्रत अब पूरा हो चुका था। सारी जिम्मेदारी श्रीराम के हाथो छोड़ कर वे दायमुक्त हुए।

श्रीरामचन्द्र एक प्रजारंजक राजा बने। उनके सुशासन से प्रजाकुल खूब फलेफुले। जिस महान धर्मराज्य स्थापित करने का शुभ संकल्प ले कर वे आए थे वह पूरा हुया। उसी दिन से रामराज्य का सुख-स्वपन भारत के लोगों के दिल में घर कर रखा है। जितने दिन चाँद और सूरज विद्यमान रहेगा रामराज्य की पुण्यस्मृति भी अमलिन रहेगी विश्ववासी के दृदय में।

ॐ तत् सत्

शांति किस मार्ग से मिलेगी?

आदरणीय साधु-सुधी-सज्जनों, स्नेहमयी माताओं और बहनों,

इस संसार के मनुष्य जान या अनजान में निरंतर तीनों चीज के पीछे दैड़ रहे है। सुबह से संध्या, संध्या से सुबह उसके सारे चिंता और कोशिश का एकमात्र लक्ष्य है उन तीनों चीज की प्राप्ति। उसका आहार, विहार, विद्यार्जन, अर्थार्जन, विवाह, संतानपालन, संसार के सारे जिम्मेदारी निभाना, बल्कि संसार त्याग कर वैराग्यव्रत लेने के पीछे भी उन तीनों वस्तु पाने की आकाङक्षा रहती है।

शायद आपलोग पूछेंगे, "स्वामिजी, जो तीन वस्तु पाने की हम इतनी कोशिश और चिंता करते, दिनरात फिक्रमंद होते, उन तीन चीज है क्या?" मैरा जवाब है, "उन तीन चीज है अनंत जीवन, अनंत ज्ञान और अनतं शांति। यानी जान में या अनजान में आप अमर जीवन, अनतं ज्ञान और अनतं शांति के अधिकारी होना चाहते हैं। माँ की गोद में एक नवजात शिशु जिस तरह मृत्यु का मय से कातर, विपद का अंदेश से हमेशा ही खौफ़जदह रहता, अस्सी बरस के बुढ़ा-बुढ़ी भी उसी तरह मरने का डरसे कातर रहते। अर्थात मनुष्य, पुरुष हो या नारी, बालक हो या वृद्ध, धनी हो या धनहीन, हिन्दु हो या अहिन्दु,—सर्व स्तर और श्रेणी के मनुष्य की एकमात्र आकङक्षा होती मैं मृत्यूंजय होकर इस संसार में चिरकाल जीवित रहूँ।

साथीओं, केवल मनुष्य ही नहीं, मनुष्य से हीन प्राणीओं भी अमर होना चाहते। इस लिए देखा जाता कि छोटी छोटी चींटी से लेकर पशुराज सिंह तक मृत्यु टालने के लिए सदा ही चौकस रहते। प्राणी जगत से नीचा उद्‌भिद जगत में भी उसी प्रेरणा निरंतर काम करती है। देखा जाता है कि एक घास की पत्ती उस पर फेंके पथ्थर के किनार से सर उठा कर सूर्यालोक और हवा पाने को निरंतर उत्सुक रहती है।

पर अमरत्व अर्थात् मृत्युहीन जीवन की आकाङक्षा मनुष्य की एकमात्र आकाङक्षा, नहीं होती। वे अनतं ज्ञान लाभ का आनन्द भी चाहते। मनस्तात्विक नजर से विचार किया जाए तो देखा जाता कि एक नवजात शिशुके सामने आए सारे वस्तु या व्यक्ति को वह अच्छी तरह देखता ताकि उसको जान सके। थोड़ा बड़ा होने पर शिशु माँ से बारबार पूछता 'बह क्या है', 'वह कहाँसे आया' इत्यादि। शिशु जव स्कुल जाने लगता और कितावें पढ़ लेता तब वह ज्ञान की सीमा बढ़ाने को व्याकुल होता। स्कुल की पढ़ाई के अंत में वह कालेज और विश्वविद्यालय में दाखिल होता। वहाँ ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयो से वह परिचित हो पाता। रोजाना अखवार, रेडिओ विविध भाषण उसका ज्ञान का भडांर बढ़ाता है। प्रतिभावान छात्र हो तो वह गवेषणागार भी जाता। गवेषणागार में उसका पसन्दीहा विषय पर बारीकी शोधकार्य चलता। उस तरह जब वह क्रमशः बुढ़ापा के दरवा जातक पहुँचता उसके प्राण में निदारूण हताशा जागती। बहुत कुछ जानने और सीखने की दुर्दमनीय आशा उसमें विद्यमान रहती। पर यमराज का परवाना अब किसी भी मुहूर्त जारी हो जायगा, जिसमें हुकम रहेगा कि दुनिया से चिरविदाई ले लो। अपूर्ण रहेगी उसकी ज्ञान की आकाङक्षा।

साथीओं, कहा जाता है कि महान् विज्ञानी सर अईजक न्युटन की मृत्यु का समय उनके आंखों से अविराम आँसु वहने लगा, जो देख कर उनके मित्रगण कहे थे—"न्युटन, तुम हो एक महाज्ञानी। ज्ञान भंडार में तुम्हारा दान है असामान्य तथा अक्षय। तो तुम क्यों मृत्यु का समय रोते हो?" न्युटन ने जवाब दिया—"मित्रगण, तुम नहीं जानते, ज्ञान-राज्य का मैं हूँ एक दीनातिदीन सेवक मात्र। अपार ज्ञान-सागर मेरे सामने पड़ा था, और उसके बेलाभूमि से मैं दो-चार बिल्लौर ही तो उठा सका। ज्ञान-समुद्र पार करना तो छोड़ो उसमें नहाने का बूता भी मुझमें कहाँ था।"

महाज्ञानी न्युटन का उस हृदयस्पर्शी खेद से जिस हकीकत निकल आता वह है मनुष्य में ज्ञान लाभ करने की इच्छा कितनी तीव्र होती! अर्थात् मनुष्य अनंत ज्ञान का स्वामी हो कर अपने को धन्य मानना चाहता।

पर मनुष्य से हीन प्राणीओं प्राकृतिक विधान से ही ज्ञान के क्षेत्रमें वहुत पीछे रहते हैं। आहार-निद्रा-भय-मैथुन के दायरे में उनके सारे उदयम सीमित रहते। लेकिन वे पूरा ज्ञानहीन नहीं होते। वे अपने रिश्ते को ठीक जानते। पशु-पक्षीओं अपने माँ को खूब जानते, और दाना-पानी के लिए माँ पर ही भरोसामंद होते। पालतू पशुओं के ज्ञान का दायरा और विस्तृत होता। वे पालक के विशेष अनुरक्त होते और पालक से स्नेह-आदर पाने को व्याकुल रहते। पालतू कुत्ते तो विशेष प्रभुभक्त होते। पालक का जीवन और संपत्ति की रक्षा के लिए वे निरतंर चौकस रहते। सर्कस के पशुओं पालक से शिक्षा पा कर आम पशुओंसे बेहतर ज्ञान और जानकारी हासिल करते और उसके जरिए दर्शकों को विस्मित कर देते। हाँ यह हकीकत है कि जितना भी सीखाया जाय पशु में कभी भी मनुष्य जैसे विवेक-बुद्धि नहीं आ सकती।

साथीओं, मनुष्यगण और प्राणीकुल केवल जीना और जानना ही नहीं चाहते, वे सुख उपभोग भी करना चाहते हैं। अर्थात उनके जीने और जानने का अंतिम लक्ष्य है अनतं सुख का अधिकारी होना। इसी लिए वे रसना की तृप्ति तथा रूप-रसादि इंद्रियभोग्य तत्वों के उपभोग कर सुख लाभ करना चाहते हैं। सुख का क्षेत्र में मनुष्य से हीन प्राणीओं की आकाङ्क्षा अति सीमित होती। उनके सुख की आशा और लोभ आहार, निद्रा और यौन वृत्ति की तृप्ति तक ही सीमित रहती। मगर बुद्धिजीवी मनुष्य केवल उस प्रकार की तृप्ति से संतुष्ट नहीं होते। ज़ायक़ेदार भोजन तो उनको चाहिए, साथ ही चाहिए भव्य वेशभूषा, आराम के उपयोगी वासगृह, और मनपसंद सखी से आसंग-लिप्सा की पूर्ति।

ज्ञान-बुद्धि के विकास के साथ क्रमशः मनुष्य जागतिक भोग से अतृप्त हो उठता। बालक नचिकेता की तरह वह भी सोचने लगता, यह सब जागतिक भोग, अपार धनरत्न, विलास-व्यसन, सुंदरी नारीओं के रूप-यौवन, यह सभी है नश्वर। उसके प्राण में जागृत होता श्रीबुद्ध जैसा वैराग्यपंथी विचार—

सुख नहीं है, आनन्द नहीं है,
जगत है केवल विषादमय,
जहाँ दुख से जलने और रोने
मनुष्य जनम लेते हैं।

अब मनुष्य नेति नेति विचार का मार्ग पहुँच कर हृदय में उस महान् नीति-वाक्य अनुभव करने लगता—

कुरंग मातंग पतंग भृंग मीनाः हताः पंचभिरेर पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पंचभिरेर पंच।।

अर्थात् वंशी से मोहित हो कर हिरण, स्पर्श-सुख से उन्मत्त हो कर हाथी, रूप से मोहित हो कर पतंग, सुवास से अधीर हो कर भौंरे प्राण देते हैं। जिस मनुष्य रूप-रस-शब्द-गंध-स्पर्श इत्यादि पांच विषय भोग के लिए व्याकुल होता उसका परिणाम कितना ही भयावह होता।

साथीओं, ऊपर का दृष्टांत से हम कह सकते कि केवल नशर इंद्रिय-भोग्य विषय सुख से मनुष्य को संतोष नहीं मिलता। मनुष्य अनंत शांति चाहता। इस लंबी आलोचना से हम साफ़ समझ सकते कि मनुष्य जीवन के चरम आकाङ्क्षित होते तीन—अनंत जीवन, अनतं ज्ञान और अनंत आनन्द। उनके स्वरूप क्या है, एवं क्यों मनुष्य उन तीनों चरम प्राप्तिके लिए अविराम लगा रहता है? पर यह सच है इस चरम उपलब्धि एक दिन बल्कि एक जनम में नही होती। उस लिए आवश्यक होता जनम जनम के कटू अनुभूति और तजरबे।

अब सवाल है, हमारे जीवन के चरम लक्ष्य तो हम जान गये हैं, पर उस अनंत जीवन, अनतं ज्ञान और अनंत शांति लाभ करने का सही उपाय क्या है? यही हमारे आलोचना का विषय है। इस विषय है अति गहरा और जटिल, मगर अति आवश्यक भी। तो आसानी से समझने की खातिर एक दृष्टांत उपस्थित करते हैं।

पुण्यतोया नर्मदा नदी के किनारे एक छोटी कुटिया में एक महापुरुष कई बरसों तपस्या करते रहे। कठोर तपस्या से उनके तन-मन धीरे शुद्ध हुए एवं अंत में प्रज्ञानेत्र उन्मीलित हुए। निर्मल दिव्य ज्ञान लाभ के साथ जब मानव जीवन का परम आकाङ्क्षित तत्व का खोज मिले वे आत्मकाम तथा आत्माराम हुए, और उनके तन-मन में ज्ञान और शाँति की दिव्यज्योति झलकने लगी। उनके प्रज्ञादीप्त, महान् व्यक्तित्व से आकृष्ट हो कर देश-विदेश के अनगिणत नरनारी उनके दर्शन, स्पर्श और आशीर्वाद पाने को आनेलगे। उनकी कुटिया में दर्शनार्थी की अविराम भीड़ रहने लगी।

उसी समय एक युवक निदारूण क्षोभ और दुख भरे प्राण लेकर उनके चरणों में साष्टांग प्रणिपात कर अपना दुख निवेदित किया—''भगवन, हृदय का निदारूण दुख लेकर मैं आपके चरणों के शरण लिया हूँ। कृपया मुझे शांति लाभ करने का सही उपाय कह दीजिए।'' शरणार्थी का करूण आवेदन सुन कर महापुरुष ने गम्भीरता सहित जवाब दिया—''बत्स, शांति तो घर में ही है। तुम घर वापस जाओ।'' लेकिन महापुरुष का प्रबोध-वाक्य से युवक कुछ भी आश्वासन नही पाया। उल्टा उसका प्राण की जलन सौ गुना बढ़ गई। महापुरुष के चरणों पकड़ कर वह कहा—''भगवन, मुझे गलत राह न दीखाएं। गहरा दुख लेकर में घर से आपके चरणतले पहुँचा हूं परम शाँति लाभ की आशा से। आपकी ख्याति मुझे यहाँ लायी है। आप कहते हैं,घर जाओ। घर में ही शांति है। भगवन, पचीस बरस तो मैं घर

ही में रहा। शांति के खोज में घर का छानबीन के अंत में हताश होकर ही मैं आपका शरण लिया हूं।''

मगर महापुरुष ने हस कर फिर कहा—''बेटा, अगर घर में शांति न हो तो लाख लाख नरनारी निवास बना कर संसार क्यों करते? केवल उतना ही नहीं। देखो जब स्कुल-कालिज, दफतर, आदालत की छुट्टी होती तो सब घर की ओर दौड़ती। केवल मानव ही नहीं, पशु-पक्षीओं भी सांझ होने पर सुख की आशा से अपने डेरा में लौटते। अगर घर में सुख न हो तो वे क्यों घर वापस जाते?''

अब युवक दृढ़ता सहित जवाब दिया—''भगवन, आपके प्रवोध-वाक्य मुझे कुछ भी आश्वासन न दिया। घर ही में यदि शांति हो तो घर छोड़ कर आप क्यों साधु बने? परिवार में क्यों आप सुख नही खोजा?''

महापुरुष अब गम्भीर बने—''देखो वत्स, घर या संसार दो किस्म के होते : ज्ञान का संसार और अज्ञान का संसार।'' युबक ने पूछा—''ज्ञान का संसार और अज्ञान का संसार क्या होते, कृपया मुझे समझायें।'' जवाब में महापुरुष ने कहा—''पहले सुनो अज्ञान का संसार क्या होता। जिस संसार के पीछे ज्ञान या विवेक-विचार काम नहीं करता, जो दूसरों के देखादेखि चलाया जाता, उसीकी अज्ञान के संसार कहा जाता। अर्थात् लोग विवाह करते तो उनके संतान जनम लेते, तब वे जिस उपाय से संभव हो पैसे कमाई कर संसार चलाते हैं। वे संतान के पालन-पोषण करते, रिश्तेदार-पड़ोस से तालमेल रखते, मौके पर आमोद-प्रमोद में भाग लेकर संसार चलाते हैं। उस प्रकार के संसार अज्ञान के संसार होते। अर्थात् उस प्रकार के संसार के पीछे न कोई विवेक-विचार न शास्त्रविधि काम करता। उस प्रकार के संसार में मनुष्य कुछ सुख वाक्ई पाता है पर उस सुख के साथ अपार दुख भी मिले हुए होते। शास्त्रकार का कहना है 'चक्रवत् परिवर्तंते सुखानि च दुःखानि च', अर्थात् जहाँ सुख हो दुख भी वहीं होगा। जगत के करोड़ों लोग इसी अज्ञान के संसार में रहकर सुख-दुख के चक्कर में रोजाना पीसे जाते हैं।

''वत्स, अब ज्ञान का संसार का स्वरूप जान लो। उस संसार के पीछे शास्त्र के विधान और गुरु के निर्देश काम करते है। ऊँची आदर्श और उन्नत उद्देश्य उस संसार को नियंत्रित करता। धीरे धीरे परम मुक्ति या मोक्ष लाभ करना ही उसका लक्ष्य होता। उस प्रकार के संसार के स्वरूप पर श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा, जिस संसार द्वारा संसार का बंधन धीरे धीरे कट जाता वही होता ज्ञान का संसार। अर्थात् जिन लोग उस संसार में होते उनका लक्ष्य होता यथासम्भव शीघ्र संसार उपभोग करने की वासना खतम कर जीवन की चरम सिद्धि के उपयुक्त तत्व हासिल करना। यहां विषय-भोग का लक्ष्य होता उस भोग का कटू तजरबे के जरिए निदारूण विषय-बितृष्णा उनुभव करना। भारत के प्राचीन युग में व्यास, वशिष्ठ, वाल्मीकि, मनु, गौतम, सांख्य, पराशर इत्यादि अवतार महर्षिओं उस तरह संसार में रह कर चरम विवेक-वैराग्य प्राप्त किए थे। हमारे समय में महात्मा विजयकृष्ण, साधु नाग महाशय, सर्वोपरि श्रीरामकृष्ण परमहंस उसी तरह संसार में रह कर लोक शिक्षा दिए हैं। वत्स, अब कहो किस प्रकार का संसार में तुम रहना चाहते हो।

"उस दो प्रकार से अलग एक उन्नततर संसार होता। वह है हृदय की गहराई में जिस आत्मिक सत्ता होती निरंतर उसी में रहना। उस विषय पर श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया, आत्मरति, आत्मक्रीड़ तथा आत्माराम होना ही मानव जीवन की आकांक्षित चरम अवस्था होती। श्रीरामप्रसाद भी उसी बात एक भक्तिगीत में दोहराया: "रह अपनेमें, न जा किसी के घर में'—अर्थात निरंतर आत्मस्मृति और आत्मचिंता मैं डूब कर रहना ही ज्ञान का संसार की चरम तुरीय अवस्था है। इसी अवस्था पाने की खातिर बुद्ध, शङ्कर, चैतन्य प्रभृति महापुरुष विषयभोग की आकांक्षा को तिलाजंलि दे कर तपस्या में लगे थे। उनके दीनातिदीन सेवक मैं भी उनके दीखाए मार्ग पर दीर्घकाल से तपस्या करता हूं। वत्स, अब तय करो उन तीनों में से किस संसार तुम करोगे। हैं, एक स्पष्टीकरण देता हूं—अज्ञान का संसार में सुख है मगर शांति नहीं है। पक्षांतर में ज्ञान का संसार में निर्मल आनन्द की धारा बहती। उस शांति का अमृत आस्वादन कर हमारे ऋषिओं ने एक युग में कहा था "मधुवाता ऋतयते मधु:क्षरंति सिंधव:" अर्थात् वातास मधुमय है, जल में मधु की धारा बहती। यानी जिस ओर भी देखो तो शांति का अमृत स्पर्श अनुभव होता, यही होती उस प्रकार के संसार की चरम अनुभूति।"

साथीओं, हम जान गए हैं कि ज्ञान का संसार में शांति लाभ होती। लेकिन सवाल है, क्या सद्गुरु के शरण लेने से तत्काल ही अक्षय शांति मिलती है? कितने गुरुके कितने शिष्य-प्रशिस्य आज चारों ओर मिलते हैं। उनके जीवन में निर्मल शांति का किसी लक्षण तो दिखाई नहीं देता। अत: यह किस तरह माना जाए कि शांति लाभ करने की खातिर सद्गुरु का शरण लेने और शास्त्रीय विधि का पालन करने से ही सिद्धि लाभ होगा?

साथीओं, और भी कुछ विचारयोग्य बिषय के खुलासा आवश्यक है। पहला यह है, अपना इच्छा या व्याख्या के अनुसार शास्त्रचर्चा या शास्त्रानुशीलन के विशेष लाभ नहीं होता। यह जानना आवश्यक है कि गीता, उपनिषद् इत्यादि शास्त्रग्रंथ गुरु-शिष्य में लेनदेन के रूप में चले आए हैं। यानी वे हैं गुरुमुखी शास्त्र। अर्थात् सद्गुरु से शास्त्र का गूढ़ अर्थ जान लेने बगैर सही ज्ञान लाभ नहीं होता। कहावत है, सात काण्ड रामायण पढ़ कर भी सीता किसकी पत्नी नहीं जाना। अर्थात देहात में लाखों अल्पशिक्षित और अशिक्षित नरनारी होते जो रामायण पढ़ते और रामायण का पाठ सुनते हैं। रामायण का अंतर्निहित ज्ञान तबभी उनसे दूर रह जाता है। इस अवसर पर मेरा अपने कैशोर की एक बात याद आई। स्कुल में मेरा एक सहपाठी सारेदिन रामायण और महाभारत पढ़ता था। मगर जब कभी वह हम से गपशप करता तो उसका आचार-व्यवहार बड़ा ही भद्दा लगता था। उस पर पूछे जाने से वह कह देता—"क्यों, उन युगों में तो ऋषिओं काम-क्रोध के दास रहते थे। दुर्वासा मुनि तो दो-चार बातों में गुस्सा कर शाप देते थे। कितने ही ऋषि अपने तपस्या के दौरान उर्वशी, मेनका जैसी अप्सराओं के रूप से मोहित हुए थे। द्रौपदी के तो पांच पति थे। खुद भीमसेन थे लोभ की प्रतिमूर्ति। बलराम थे एक बेहद पियक्कड़।"

अपना मतलब के अनुसार शास्त्र पढ़ने का क्या लाभ होता वह आपलोग मेरा उस सहपाठी का बखान से आसानी से समझेंगे। उसके आलावा एक श्रेणीके शास्त्र के कारोबारी होते जो केवल कमाई की खातिर रामायण, महाभारत, गीता, भागवत चंडी इत्यादि की व्याख्या करते हैं। क्या उस प्रकार के लोगों से शास्त्र सुनने से सही ज्ञानलाभ की आशा दूर नहीं रह जाती? पक्षांतर में उन से उच्चतर एक श्रेणी के गुरु होते जो उतना अर्थ-पिशाच न होते हुए भी घोर स्वार्थांध और सांप्रदायिक मन के होते। सही ज्ञान के अधिकारी न होने की वजह उनके जीवन शुद्ध ज्ञान से रौशन नहीं होता, और शिष्यों के जीवन भी नीचास्तर में रह जाता। तभी कहा जाता कि के शास्त्रज्ञ नही, जो ब्रह्मनिष्ठ होते वे ही सही सद्‌गुरु होते हैं। निःस्वार्थ, निर्लोभ, जितेंद्रिय और स्थितप्रज्ञ सद्‌गुरु से ज्ञान प्राप्त होने से शिष्य के जीवन प्रज्ञादीप्त होता, और वे धीरे से भ्रम-भ्रांति के अतीत चले जाते।

साथीओं इस प्रसंग में एक विषय जान लेना चाहिए। आश्रयदाता सद्‌गुरु केवल शास्त्र का मर्मार्थ की व्याख्या के जरिए शिस्यों को ज्ञान दान नहीं करता। भारत का धर्म का इतिहास में ऐसे अनेक महान गुरु के नाम है जिनको शास्त्र चर्चा या शास्त्र पढ़ने का मौका नहीं मिला। वे केवल कठोर साधना के जरिए आत्मज्ञान या भगवत् तत्व की उपलब्धि पाये थे। कबीर, दादु, नानक, वर्तमान युग का श्रीरामकृष्ण परमहंस इस प्रकार के साधकों के उज्ज्वल दृष्टांत हैं। अपने शिस्यों को वे वेद-उपनिषद पढ़ा कर ज्ञान नहीं दिए थे। उनके ज्ञानदान का कौशल अलग होता। शिश्य और भकतों को अपने पवित्र संपर्क में रख कर शुद्ध आचार-व्यवहार के जरिए वे सीखाते थे।

एक और विषय भी जान लेना चाहिए। प्रकृत शाँति का उदगम स्थान है मन। शास्त्रकार ने कहा : 'मन एव मनुष्यानां कारणं बंध मोक्षयोः'—मन ही बंधन तथा मोक्षके मूल कारण है। अविद्या से छाये अशांत मन मानव को निम्नगामी कर बंधन से जकड़ लेता। शांत और नियंत्रित मन ही अध्यात्म साधना की चोटी में पहुँचा कर मोक्षलाभ करने में साधक को सहायता देता। अतःशांति लाभ करने के लिए मन जय करना ही पहला और प्रधान काम है। इसीलिए अर्जुनने अपने आश्रयदाता सद्‌गुरुको कहा—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्थात्, हे कृष्ण, मन चंचल स्वभाव का होता, इंद्रिय की अस्थिरता से प्रभावित है, और महाशक्तिशाली भी दृढ़ भी है। तभी मेरे सवाल है, वायु की रोकना जिस प्रकार दुःसाध्य होता मन को रोकना भी उस प्रकार दुःसाध्य है।

लेकिन श्रीकृष्ण ने सलाह दिया, कुछ भी निराश न बनों। उन्हें उत्साहित कर श्रीकृष्ण कहा—

उद्धारेदात्मनात्मनं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यत्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

अर्थात् आत्मा द्वारा ही आत्माको उद्धार करो, अत्माको मायूस न करो। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु होती।

साथीओं, सद्‌गुरु के रूप में श्रीभगवान का उस उपदेश से यह समझा जाता है कि जिस मन आत्मोद्धार की राह में विघ्न होता उसी मन मुक्ति की राह में परम मित्र होता। मन की इस द्विमुखी शक्ति वाक्ई अति दुर्बोध्य है।

इस संदर्भ में मन का असली रूप पर शास्त्रकारने पांच प्रकार की अवस्था की उल्लेख की है : क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मनको वशीभूत करने के लिए उसका स्वभाव जान लेना आवश्यक, क्योंकि उसके बगैर मनको वशीभूत करना असंभव है। मन का स्वभावज प्रवलतम संस्कार है उसकी क्षिप्त अवस्था, जिस अवस्था की उल्लेख अर्जुन ने की है। इस अवस्था अति भयानक होती। आसानी से समझने के लिए एक उदाहरण: एक बंदर को शराब पिला कर उसको बिच्छू से कटवाने पर उसकी जो शारीरिक और मानसिक अवस्था होती मनुस्य की क्षिप्त अवस्था उसी प्रकार होती। बंदर कितना चंचल स्वभाव का होता, हम जानते हैं। उसीको शराब पिलाकर बिच्छूसे कटवाने पर उसकी चंचलता कितनी भयानक होगी हम उसका आसानी से अंदाजा लगा सकते। क्षिप्त अवस्था में मनुष्य का मन उसी प्रकार अस्थिर, उन्माद जैसा रहता। उस प्रकार के दिशाहीन, उन्मत्त मनुष्य तो रोजाना के नियमित काम तक कर नहीं पाता, दूर रही जप-तप और साधन-भजन की बात। दूसरी है मनकी मूढ़ अवस्था, जिसमें मन मूढ़ यानी अचेतन, जड़ता से छाया रहता। तामसिक स्तर के नरनारी उस अवस्था में रहते हैं जिस कारण वे कर्तव्य-कर्म में मन लगा नहीं पाते। इन दोनों अवस्था से ऊर्द्ध है मन का विक्षिप्त अवस्था। इस अवस्था में मनकी क्षिप्तता थोड़ा घटने से भी बारबार प्रकट होती है। जिस वजह से मनुष्य चित्त विशेष चंचल और अधीर रहता। चोथी है मन की एकाग्र अवस्ता। इस अवस्था में साधक गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर मनको वशीभूत करने यत्नवान होते, जिस एकनिष्ठ कोशिश से मन क्रमश: एकाग्र हो उठता। तवभी उस एकाग्रता स्थायी नहीं होती, तामसिक और राजसिक वृत्ति के प्रभाव से कभी कभी मन चंचल होता। इस अवस्था के बाद साधक जब ध्यान-योग के जरिए मनको इष्ट पर स्थिर कर लेता तब मनकी सारी प्रवृत्ति होती निरुद्ध। इस अवस्था में मनुष्य को ध्यान-साधना की सिद्धि लाभ होती है।

साथीओं, साधकों के मन जय करने का साधना न तो आसान न है सरल। दीर्घकाल का अध्यवसाय और एकनिष्ठ तपस्या की जरूरत होती। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे : 'आत्मकृपा के साथ गुरुकृपा मिलने से ही भगवतकृपा मिलती है।' उस 'आत्मकृपा' का साधना ही साधक का पुरुषकार का साधना होता। अर्थात् साधक अपना जन्मगत शक्ति-सामर्थ के बूते अपना मन को जय करने का संकल्प से कटिबद्ध होकर जब सद्‌गुरु की कृपा प्रार्थना करते तब उनके जीवन में आत्मकृपा और गुरुकृपा का समन्वय होता, जिसके नतीजे में उनको भगवत् कृपा लाभ होता।

जिस आत्मकृपा की बात इतिपूर्व कह गई है, वह गुरु-निर्दिष्ट मार्ग की जगह अपने मन-मर्जि सौ जनम की कोशिश भी चंचल मन को काबू में नहीं ला सकती। अर्थात् सद्‌गुरु

का आश्रय लेने के बाद साधक जब उनके निर्देश पर तपस्या करते तब उनका साधना सही मार्ग लेता, जिस वजह शक्ति का एक बूंद भी अपचय नहीं होता। अब सवाल है, मन जय करने को सब शिष्य को क्या एक ही किस्म का उपदेश मिलता? जवाब है—एक आदर्श गुरु अपने आश्रित संतान का संस्कार के मोताबिक, उसके स्वभाव के अनुकूल मार्ग का निर्देश करते हैं।

हिन्दु शास्त्र के अनुसार मनुष्य प्रकृति चार किस्म की होती : कर्मप्रवण, विचारप्रवण, ध्यानप्रवण, और भावप्रवण। जिनकां संस्कार कर्मप्रवण होता उनको निष्काम तथा उनासक्त चित्त से अपना कर्मप्रवृत्ति पूरा करने का निर्देश मिलता। जिनकी विचार प्रवण प्रकृति होती उनको निर्देश होता 'नेति नेति' विचार के जरिए अनित्य तथा असत् वस्तु त्याग कर नित्य ब्रह्म पर चित्त निवद्ध करो। जिनकी ध्यानशील प्रकृति होती उन्हें निर्देश होता—यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि ध्यान-योग के जरिए मनको आत्मिक सत्ता में स्थिर करो। पर्क्षांतर में जिनकी भावप्रवण प्रकृति होती उन्हें निर्देश होता—पुजा, जप, कीर्तन इत्यादि भक्तिमूलक साधन मार्ग के जरिए मनको ईश्वरमुखी करो। अर्थात् एक आदर्श गुरु अपने शिष्यों को उनके स्वाभाविक संस्कार की राह पर चलाते।

मनको वशीभूत करने का उपाय क्या है? अर्जुन का इस सवाल का जवाब में श्रीभगवान ने कहा : 'अभयासेन तु कौंतेय वैराग्येन च गृह्यते' अर्थात् लगातार अभ्यास और विषय-वैराग्य का अनुशीलन से मन को वशीभूत करना संभव है। लेकिन आगे चल कर श्रीभगवान ने अर्जुन को कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग या ध्यानयोग और भक्तियोग के उपदेश दी है।

साथीओं, यह जान लेना आवश्यक है कि उन चार किस्म के साधना अलग अलग भी, और विशेष क्षेत्र में एकसाथ करना भी संभव। अर्जुन थे एक आधार में कर्मी, ज्ञानी, ध्यानी तथा भक्त। वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ धर्मगुरु आचार्य प्रणवानन्दजी भी अपने अनेक शिष्यों को उस प्रकार समन्वित साधना का निर्देश किए थे। अर्थात् जैसे आचार्यजी उनको संघ-सेवा का निर्देश दिए थे साथ ही यह कह दिए थे कि जप-ध्यान के बगैर चित्र शुद्ध नहीं होता। इस संदर्भ में स्पष्ट निदेश था—''कर्म करोगे, जप-ध्यान भी करोगे''। साथ ही अपने आश्रम में प्रवर्तित त्रिसंध्या पुजारति और कीर्तन में भाग लेना उनके पार्षद-शिष्यों के रोजाना साधना का आवश्यिक अंग माना जाता था।

साथीओं, जिन साधकों उपरोक्त चार प्रकार के साधन मार्ग अलग अलग अपना कर, मन जय कर, जीवन का चरम लक्ष्य चहुँचने का साधना करते, उनके प्रयास पर कुछ और रोशनि डालेंगे। सबसे पहले हम देखेंगे, कर्मप्रवण संस्कार होने के कारण जो कर्मयोग के जरिए जीवन का चरम लक्ष्य पर पहुँचने को दृढ़ संकल्प होते, उनके साधना का स्वरूप क्या होता? गीता में कर्मयोग पर उपदेश देते समय श्रीभगवान ने अर्जुन को कहा, इस जगत का कोई भी क्षण काल कर्महीन न रह सकता। कर्महीन अवस्था में शरीर निर्वाह करना भी संभव नहीं। अर्थात् स्वभावगत संस्कार से मनुष्य आहार, निद्रा ईत्यादि करता है, और उन

सब नियमित कर्म को योग में रूपायित करना ही साधक का सर्वप्रधान साधना होता। उसका उपाय भी श्रीभगवान ने निर्देश की है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।

अर्थात् तुम आसक्तिशून्य होकर सर्वदा कर्तव्य-कर्म करो, क्योंकि अनासक्त कर्म से मनुष्य को परमपद प्राप्त होता।

साथीओं, उपरोक्त भगवत निर्देश से साफ़ है कि आसक्ति ही कर्मसाधना का सबसे बड़ा विघ्न होता। एक साधक जब कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल में आसक्ति ले कर कर्म में लगता तब उनकी कर्तृत्वबुद्धि और फलासक्ति बंधन का कारण होता—यही 'आसक्ति' शब्द का उस संदर्भ में अर्थ है। आसक्ति त्यागने का उपाय भी श्रीभगवानने निर्देश की है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीनिर्म्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।।

अर्थात् (ईश्वर हैं कर्त्ता। उन्हीं को उद्देश कर मैं एक नौकर की भाँति काम करता हूँ—इस प्रकार बुद्धि ले कर) सारे कर्म मुझे समर्पित कर ममता और कामनाशून्य होकर, शोक त्याग कर, तुम युद्ध करो या स्वधर्म का आचरण करो।

साथीओं, कर्मयोग का इस परम माहात्म्य श्रीराम का भाई भरत का जीवनादर्श में देखा गया। उनमें राजा बनने की इच्छा नहीं थी। माता कैकेयी की प्रवल इच्छा के बावाजुद, राज-गौरव को तुच्छ मान कर वे रामचन्द्र को वापस लाने चित्रकूट गए थे। उससे हम अनुमान कर सकते कि उनमें राज-काज चलाने की आसक्ति एक बुंद भी नहीं था। केवल बड़े भाई के आदेश शिरोधार्य कर उनकी पादुका सिंहासन पर रख राज-काज की जिम्मेदारी निभाने को राजी हुए थे, और पूरा निष्काम रूप से सारी शक्ति लगा कर चौदह बरस वह काम किये। नतीजे में उनको श्रीराम का अपार स्नेह और अशेष आशीर्वाद मिले। वाक़ई जब एक मनुष्य उस तरह कर्तृत्व का अभिमान और फलासक्ति त्याग कर, अपने पर थोपे गए जिम्मेदारी उत्साह सहित, निरलस रूप में, एवं इश्वरार्पण-बुद्धि सहित निभाता, तो उस साधना से उसका चित्त होता शांत, संयत तथा स्थिर, और नतीजा में उसको कर्मयोग साधना की पूर्ण सिद्धि मिलती। हाँ, यह भी जान लेना चाहिए कि कर्मयोग साधना में सिद्धि के निरंतर अभ्यास आवश्यक है, क्योंकि कर्मासक्ति और फलासक्ति आसानी से दूर नहीं होते। इसीलिए श्रीभगवान ने कहा, मन जय करने के लिए अभ्यास योग आवश्यक है।

अब देखते हैं ज्ञानयोग का साधना से साधक को किस तरह सिद्धि मिलती है। इतिपूर्व हम देखे हैं कि ज्ञानयोग के साधना के लिए सर्वप्रथम नित्यानित्य विवेक विचार आवश्यक होता। इस योग के साधकों अंतर्मुखी होकर अविराम 'नेति नेति' विचार के जरिए उस परम तत्व खोजने को व्याकुल रहते। देह की नश्वरता, जगत की अवास्तवता, रूप-रस इत्यादि पंच विषय की क्षणभंगुरता पर विचार करने इस योग के साधको निरंतर व्यस्त और व्यग्र रहते। अनित्य वस्तुओं पर पल भर का ध्यान देने भी नहीं चाहते। आरण्यक युग के ऋषिओं इस प्रकार साधना

के उत्कृष्ट उदाहरण थे। पत्नी का विश्वासघात से राजा भर्तृहरि को निदारुण आघात लगा। उससे उनमें तीव्र वैराग्य विचार जागृत हुया था—उनकी 'वैराग्यशतक' किताब में सब कुछका हृदयस्पर्शी वर्णन है। हाँ, ज्ञानयोग का साधना भी आसान नहीं होता। केवल योग्य अधिकारी के सिवा किसीसे इस साधना संभव नहीं। एक किस्म के झूटे वैरागी अक्सर नजर आते जिनके विवेक-विचार प्रियजन की मृत्यु पर लोगों के वैराग्य की भाँति क्षणस्थायी होता। आम लोग (प्रियजन के निधन पर कुछ समय कहने लगते इस संसार के कोई भी किसीका न होता, सभी मिथ्या और अलीक है। पर कुछ देर में वे विषय-भोग करने लगते हैं।)

साथीओं, राजयोग या ध्यानयोग के साधकों प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि योगांग साधना के जरिए अपने मानसिक प्रवृत्तिओं शांत और संयत कर इष्ट पर केन्द्रीभूत करना चाहते। इस साधना भी खूब दु:साध्य होता। जिनके मानसिक संस्कार ध्यान-प्रवण केवल वे इस मार्ग लेने के योग्य होते। इस संदर्भ में यह जानना चाहिए कि हठयोग और राजयोग एक नहीं है। इन दो प्रकार साधना में बड़ा फर्क है। हठयोगीओंके मकसद होता शरीर सेहतमंद और हट्टाकट्टा बनाये रखना। पर इस साधना के जरिए कुछेक साधक असामान्य शक्ति प्राप्त करते और उस बुते पर कभी कभी असाध्य काम कर आम जनता को विस्मित कर देते हैं।

अखबारों में कभी कभी उस प्रकार के योगीओं की अलौकिक शक्ति के अनेक कहानी छप जाते हैं। मेरे कैशोर में उस प्रकार के एक योगी से मुलाकात हुई। उसका नाम स्वामी भैरवानन्द। खुलना शहर में पधार कर वह कुछ दिन एक वकील के घर में डेरा डाला। उस दौरान दर्शनार्थीओं को वह योगविद्या के उनेक चमत्कार दिखाया। शहर के अनेक जानेमाने लोग उस योगी से विशेष मोहित हुए और उसका एक आश्रम बनाने के लिए मोटी रकम भी जुट लेने में देर न लगी। आश्रम निर्माण का काम कुछ आगे बढ़ा तब आसपास के इलाके के घर में उस योगी एक बालविधवा के साथ व्याभिचार करते हुए पकड़ गया। अत: लंबी कारावास। तब योगी के भक्तगण उस पर खूब विरक्त हुए। इस दृष्टांत से आपलोग समझ सकते कि जिस योग साधना का मकसद है ऐहिक मान-यश अथवा किसी प्रकार की स्वार्थसिद्धि, उससे चरम सिद्धि लाभ नही होती। पक्षांतर में सच्चा राजयोगी का जीवन का लक्ष्य होता चित्तशुद्धि और उससे मानव जीवन का चरम लक्ष्य—परम गति लाभ करना। इस युग में उस प्रकार एक आदर्श महान योगी रहे गोरखपुर मठ का मोहांत बाबा गंभीरनाथ। गयाधाम का एक पहाड़ की चोटी में बने एक गुफा में लंबी पन्द्रह बरस का दु:साध्य साधना से बाबा को चरम सिद्धि मिली थी। संघनेता आचार्य प्रणवानन्द रहे उन्हीं का योग्यतम शिष्य। आचार्यजी कभी कभी कहते थे—''नाथजी अगर चाहते तो अपने योगशक्ति के बूते चाँद या सूरज को एक पल में उसके कक्ष से बाहर ला सकते थे। पर उतनी बड़ी तप:शक्ति का अधिकारी रहने के बावजूद योगीराज थे पूरा शांत और लोक-संग्रह व्रत निभाने में उत्सुक। अपना आलौकिक योगशक्ति का चमत्कार दिखाने की कोई इच्छा उनमें नहीं थी।''

राजयोग का एक अन्यतम अंग है त्राटक साधना। योग मार्ग पर पहला चलनेवालों को इसका अभ्यास विशेष आवश्यक। मन:संयम या एकाग्रता साधना का एक अव्यर्थ उपाय

के तौर संघगुरु आचार्य प्रणवानन्दजी अपने शिष्योंको त्राटक साधना का उपदेश देते थे। उनका निर्देश था, एक टुकड़ा कागज पर ओं अथवा प्रणव अक्षर लिख कर दीवार पर सट दो, और उस पर नजर केन्द्रीभूत कर रोजाना नियमित रूप से अभ्यास करो। उपरोक्त वाह्य त्राटक अभ्यास के साथ दोनों भ्रूके बीच सुनहरी ओं अथवा प्रणव ध्यान अभ्यास का भी निर्देश देते। शायद आपलोग जानते हैं, पाश्चात्य देशों में एक श्रेणी के नरनारी मानसिक एकाग्रता लाभ करने को एक टेबुल पर एक यंत्र में एक बिंदु लगा कर उसमें नज़र केन्द्रीभूत करते हैं। उस प्रचेष्टा के साथ आध्यात्मिकता का कोई रिश्ता नहीं रहता। वे केवल व्याह्यिक उपाय से मन को एकाग्र करना चाहते। उस उपाय से उपलद्ध एकाग्रता ज्ञान-विज्ञान के शोध कार्य में काम आती।

भक्ति मार्ग के साधकों किस उपाय से प्रेम-मूलक साधना के जरिए अभीष्ट लाभ करते है अब उस पर थोड़ा आलोचना करुंगा। आपलोग जानते हैं, भक्ति साधना के अंग बहुमुखी और विचित्र होते। उनमें से नाम-जप का साधना ही सबसे अहम है। केवल हिन्दु नहीं, इसलामी, याहुदी, इसाई इत्यादि धर्म के साधकों भी जप-साधना की अहमीयत मानते हैं। शायद उनके जप-मंत्र उनके भाव और विधि के परिपोषक होते। हम जानते हैं भगवान श्रीकृष्ण-स्बयं जप-साधना को श्रेष्ठ यज्ञ माना था।

इस संदर्भ में एक और बात जान लेना आवश्यक है। भगवान का किसी भी एक नाम चुन कर निष्ठा सहित जप करने से कुछ फल अवश्य ही मिलता है, पर कुछ समय जप के अंत जब अभीष्ट फल ना मिलता तब उस नाम पर अश्रद्धा या अविश्वास जागृत होना स्वाभाविक है। इस कारण शास्त्र का विधान है, सद्‌गुरु से साधन दीक्षा लेकर उनसे मिले मंत्र का निष्ठा सहित जप करना चाहिए। यह कहना बाहुल्य न होगा कि उस प्रकार गुरु-मंत्र पर अधिकतर श्रद्धा होना ही स्वाभाविक है। फिर भी कभी क़भी देखा जाता कि सद्‌गुरु का दीक्षित शिष्यको जप-साधना में सफलता नहीं मिली। सफलता न मिलने का अन्यतम कारण होता शिष्य का एकाग्रता, निष्ठा और अध्यवसाय का अभाव। इसी लिए कहा गया—'मंत्र साधयामि वा शरीरं पातयामि', अर्थात् 'मंत्र का साधन वरना शरीर का पतन' इस प्रकार दृढ़ संकल्प सहित साधक अविचल श्रद्धा और अटूट निष्ठा से नाम-साधना करता तो सिद्धि तब मिलती। दृष्टांत स्वरूप हम यवन हरिदास का नाम ले सकते। हरिदास को महाप्रभु चैतन्य से जो महामंत्र मिला था उस मंत्र साधना के लिए वे कठोर संकल्प किए थे। लोग कहते थे, रोज सवा लाख जप के अंत हरिदास अन्न-जल लेते थे। उस साधना में कभी कभी उनको किस अग्निपरीक्षा का सामना करना पड़ा यह भी लोग जानते हैं। उस समय मुस्लिम काजी के हुकम पर उनको जंजीर से वांध कर बाईसठो बाजार में बेत मार कर घायल किया गया। तब भी वे नाम-साधना एक पल भी न छोड़ कर उस दण्ड ले लिया। परवर्ती जीवन में एक श्रेणी के रूढ़िवादी ब्राह्मण पण्डित और धर्मगुरु उनकी ख्याति से ईर्षालू होकर उनको लूभाकर गुमराह करने का मकसद से एक सुन्दरी वारांगना को लगया था। तब भी नाम-साधना का अटूट निष्ठा ही उनको लोभ से रक्षा किया।

नया युग में भक्ति-साधना के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक महाप्रभु गौरांगदेव ने नाम-साधना का अव्यर्थ सूचना दी है—

''तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदाहरिः।।

अर्थात तृण से भी विनम्र, वृक्ष जैसे सहिष्णु और निरभिमान चित्त से दूसरों को मान दान कर निरंतर भगवान का नाम लेना विधेय। श्रीगौरांग की सूचना का असली मतलब है : नाम-साधना यानी जप-साधना का साधकों होंगे तृण से भी विनम्र, वृक्ष जैसे धैर्यवान तथा पात्र या अपात्र भेद किए बगैर सबको सम्मान देंगे। अधीर, अस्थिर या चंचल स्वभाव के लोग जो मामूली आघात या अपमान से धीरज खो देते, और जो बड़े लोगोंको सम्मान करते किंतु दीन-दुखी-गरीब का अनादर करते, वे नाम-साधना करने योग्य नहीं होते। नवद्वीप, वृंदावन धाम इत्यादि तीर्थ में अनेक भक्त नरनारी नजर आते जो हाथ में माला लेकर जप करते हैं। मगर थोड़ासा खोज से ही जाना जाता कि उनमें उन गुणों है ही नहीं, एवं उसी कारण नाम-साधना उनको जीवन शुद्ध तथा सिद्ध नही कर पाता।

भक्ति साधना का दूसरा अंग है पुजाारति। उस पर शास्त्र में लिखे विधि-विधान पर ध्यान देना आवश्यक है। हमारे देश के पुरोहित और पाण्डा यानी जिन पर हमारे पुजार्चना की जिम्मेदारी होती—तीर्थ और मंदिरों में जो लाखो अज्ञ, अशिक्षित यजमानों के प्रतिनिधि या गुरु के रूप पुजा और यागयज्ञ अनुष्ठित करते—रोजाना पुजा इत्यादि उनके जीवन शुद्ध तथा पवित्र नहीं कर पाते। तो वे किस तरह यजमानों के मन निर्मल तथा विशुद्ध करने के योग्य होते? इस युग का सर्वश्रेष्ठ पुजारी श्रीरामकृष्ण परमहंस का निर्मल जीवन से हम इस विषय पर अनेक सूचना पाते हैं। अपना बड़ाभाई का निर्देश पर वे दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि द्वारा प्रतिष्ठित मंदिर का वेतनभोगी पुरोहित रहे। पर कई बरस पूजार्चना के अंत में ऐसा लगा कि उन्होंने मंदिर की जिस देवी की जननी के रूप में इतने बरस हार्दिक भक्ति सहित पुजा की है, जिनके दर्शन को वे इतना व्याकुल रहते, उनकी कृपा से वे वंचित हैं। एक मुहूर्त के लिए भी उस देवी का साक्षात् दर्शन उनके भाग में न हुआ। तब श्रीरामकृष्ण अपना हृदय की गहराई में खोजने लगे उनकी त्रुटी क्या है, पुजा में कोई दोष तो न हुया, जिस कारण माता दर्शन नहीं देती? अतः उनको उपलब्धि हुई कि जिस माँ की पुजा वे त्रिसंध्या करते उसीको 'मछूया की काली' (रानी रासमणि मछूया जात की थी) गिन कर उसका प्रसाद वे नहीं लेते थे। वह तो क्षमा का अयोग्य अपराध था, क्यों कि माँ काली कभी भी न मछूया न ब्राह्मण की होती। काली तो सबकी माँ होती। उनकी नजर में जातिवर्ण का भेद न होता, सब उनके संतान होते। उस गलती सुधार कर श्रीरामकृष्ण अब निर्द्विधा मन और भक्ति सहित प्रसाद लेने लगे। और कुछ दिन काटा, तब भी माँ का दर्शन न मिला। वे फिर सोचने लगे, और भी कुछ गलती तो नहीं होती जिस कारण माता का संतोष नहीं हुया? उनको लगा कि ब्राह्मणत्व का अभिमान उनमें था; जिस वजह से वे ब्राह्मण से नीचा जात को ब्राह्मण के बराबर नहीं गिन पाते। अतः उस अभिमान खतम करने को नियमित

झाड़ूदार की जगह स्वयं मंदिर का शोचालय साफ़ किया। लेकिन हाय! माँ का दर्शन न मिला। एक दिन दु:सह मानसिक वेदना से अधीर होकर वे मंदिर का भितरी कमरा में गए। दीवार पर टंगा था वलिदान करने का खड़ग। उस खड़ग हाथ में लेकर उन्होंने माँ काली को कहा—''माँ, तेरा पत्थर का दिल में कुछ भी दया न है। हर रोज छाग का खून पीकर तेरी जिह्वा है खुन के प्यासी। आज तेरे संतान का सिर ले!'' यह कहकर उन्होंने खड़ग अपना सिर पर उठाया। तब मंदिर में दिव्यज्योति का प्रकाश हुया। पत्थर की मूर्ति में चिन्मयी मातृमूर्ति आबिर्भूत हुई। वराशीष का हाथ से माता संतान को आश्वासन दी। श्रीरामकृष्ण की देवीपुजा इतने दिनों में सफल हुई। उनके सारे क्षोभ भी मिट गए।

रामायण के पाठकों जानते हैं कि श्रीराम की दुर्गापुजा उसीतरह सर्वस्व पण के जरिए सफल हुई थी। अर्थात् जब श्रीराम तीर मार कर अपना कमलनयन उखाड़ने को प्रस्तुत हुए तब माता दुर्गा की कृपा मिली, उससे पहले नहीं। इस युग में भारत सेवाश्रम संघ में शक्ति पुजा का प्रर्वतन कर आचार्य प्रणवानन्द ने कहा था : 'केवल फूल से पुजा नहीं अब व्याकुल गीतों से होगी'।

साथीओं भक्ति-साधना का पहला अंग जप एवं दूसरा अंग पुजारति के यथार्थ स्वरूप आपके सामने रखा गया। अब उस पर और भी कुछ कहना आवश्यक। आदर्श भक्त के गुण के प्रसंग पर श्रीमन्महाप्रभु ने कहा : 'जीव पर दया, नाम में रुचि और वैष्णव सेवा'। अर्थात् केवल नाम-जप और पुजारति में रुचि रखना यथेष्ट नहीं होता, जीव पर दया और वैष्णव अथवा साधु-सज्जन की सेवा करना भी आवश्यक है। आजके भक्ति-साधना के साधकों के अधिकांश के मन गुरु-निर्दिष्ट मंत्रका जप और इष्ट देवदेवी की पुजा, स्तव, पाठ और नामकीर्तन में लगा रहता, भगवत का पाठ सुन कर कभी-कभी वे प्रेमाश्रु भी वहाते हैं, और वे सोचते कि इष्टदेव को अवश्य ही प्रसन्न कर पायेंगे। पर वे भूल जाते कि जिस भागवत उनके प्राण से भी प्रिय धर्मग्रंथ है उसी में श्रीभगवान स्वयं कहा—''जो मुझे केवल मंदिर, पत्थर अथवा धातु-निर्मित मूर्ति में सीमावद्ध सोचते वे हैं पूरा अज्ञ तथा भ्रांत, एवं वे मेरी कृपा से वर्जित रहेंगे। उनको जानना चाहिए कि मै हूँ सर्वव्यापी विष्णु; इस विश्व के जीव, प्राणी, उद्भिद, बल्कि अणु-परमाणु में मैं हूँ विराजमान।'' गीता का विभूति-योग में श्रीभगवान अर्जुन को इस पर और स्पष्टरूप से कहा—''इस जगत के जो कुछ है सुन्दर, महत्वपूर्ण और ऐश्वर्यमुक्त वह है मेरी विभूति।'' अंत में उन्होंने कहा—

अथवा बुहनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

अर्थात्, हे अर्जुन, मेरी इतनी विभूति या ऐश्वर्य जान कर तुम्हारा क्या लाभ है? तुम सिर्फ इतना जान लो कि इस चराचर विश्वको मैं मेरा एकांश द्वारा धारण कर रखा। इस विषय पर उपनिषद् में और भी स्पष्ट रूप में कहा गया: 'सर्वं स्वल्विदं ब्रह्म', अर्थात् इस जगत का सब कुछ ही ब्रह्म अथवा ब्रह्म-स्वरूप है। अत: भगवान की सेवा केवल देवमूर्ति की सेवा नहीं। जीव मात्र को शिव, नर मात्र को नारायण तथा नारी मात्रको नारायणी अथवा लक्ष्मी मान कर

सेवा करना भी भगवद्भक्ति का एक विशेष अंग होता। हमारा दुर्भाग्य कि हमारे तथाकथित भक्तगण दीर्घकाल हुए इस महान सत्य भूल चुके हैं। जिसका नतीजा हमारे अशिक्षा, कुशिक्षा और दरिद्रता के अवकाश से विधर्मीओं करोड़ों हिन्दु भाई-बहन के धर्मांतर कर अपना दल की पुष्टि किए है, आज भी करते हैं। अब आया इस विषय पर चैकसी बरतने का दिन।

महान भक्त तुलसीदास क विख्यात दोहा में है : 'दया धरमका मूल है, पाप मूल अभिमान'। अर्थात् धर्म का मूल है दया, उदारता या सक्रिय सेवा, व पाप का मूल है अभिमान। जो धनाभिमान, ज्ञानाभिमान, गुणाभिमान और देहाभिमान रूप में प्रकट होकर मन को स्वार्थी और संकीर्ण करता। उस स्वार्थपरता और संकीर्णता ही महा पाप होते।

एक श्रेणी के वैष्णव-भक्त हैं जो अपने संप्रदाय के वैष्णवों पर विशेष अनुरक्त होते। उनके आदर और सेवा कर वे जानते कि वे महाप्रभु गौरांग-के निर्देश पर वैष्णव सेवा रूप भक्त का गुण का अभ्यास करते हैं। लेकिन यह भी एक महभ्रांति है। क्योंकि सच्चा साधक को संकीर्ण सांप्रदायिक दायरे से ऊपर उठना चाहिए। जिस श्रीकृष्ण की सेवा-पुजा में वे मग्न रहते उसी श्रीकृष्ण ने कहा—"परित्राणाय साधुनां"। "अर्थात् साधु भाव के नरनारी के परित्राण के लिए वे अविर्भूत होते, केवल किसी माला-तिलक धारी विशेष संप्रदाय का उद्धार के लिए नहीं। उसके आलावा इन दिनों माला-तिलकवाले वैष्णव छोटे छोटे गोष्ठी में बँट गये हैं। यानी जिस सरसों के जरिए भूत भगाया जाता उसी में भूत का घर बना है। तब ही तो नया युग का आचार्य स्वामी प्रणवानन्दी ने कहा

जितनी पुजा तुम करो, हिन्दु,
भगवत् चरण तक न पहुँचता,
हीनवीर्य, क्लीव की पुजा
कभी न स्वीकार होता।

साथीओं इस आलोचना से यह स्पष्ट हुया है कि शांति लाभ करने के हमारे इतने दिनों के प्रयास और भावना में बड़ी बड़ी गलतियां रहीं। आज उनके आमूल संस्कार और संशोधन आवश्यक है। मैं एक और वार कहूं, शाति है भीतर की वस्तु। वाह्य जगत में वह नहीं मिलती। प्राचीनतम युग में, सृष्टि की आदि ऊषा में, शांति के प्यासा साधकों ने बाहरी जगत का छानबीन किये थे। उससे शांति न मिली तो वे अंतर्मुखी हुए और वहाँ आत्मतत्व का खोज पा कर वे अनुभव किए कि सत्, चित् और आनन्द स्वरूप आत्मा में ही परम शांति मिलती है। उस सत् में है अनंत जीवन, चित् में है अनंत ज्ञान और आनन्द में है अनंत शांति। अर्थात् जिन्हहोंने इतने दिनों वाह्य जगत में जिन तीनों वस्तु के लिए प्रयास कर विफल हुए थे, उसी वस्तु उनके आत्म स्वरूप में नित्य विद्यमान है। जैसे कस्तुरी मृग अपने नाभि की खुशबू से आकृष्ट होकर उसका उत्स का खोज में इधर-उधर दौड़कर थकता, इनके हाल उसी तरह है।

साथीओं, विस्मय की बात यह है कि प्राचीनतम काल से जगत के कोने कोने में शांति के प्यासे नरनारी में वही एक प्रश्न उभर आया और बहुविध हैरानी, थकन और कटू तजरबे

के पश्चात् वे समझे कि उनके प्रार्थित वस्तु वाह्य जगत में—रूप-रस-शब्द-स्पर्ष के इंद्रियभोग्य जगत में—नहीं मिलती। उनको आपने की गहराई में झांकना आवश्यक होगा। आखिर में एकदिन उनको कवि की भाषा में कहना पड़ेगा—

सबके द्वार होकर तुम्हारा द्वार पहुँचा।
किसीका प्यार न मिला, अब तुम्हारी इच्छा।।

उस एक ही प्रश्न का जवाब बुहतबार बहुत कण्ठ से उच्चारित हुया, लेकिन मानव की विभ्रांति का अंत कहाँ है? हमारे प्राचीन प्राज्ञ ऋषि-महर्षि-साधुसंत के आप्तवाणी पर द्विधाहीन विश्वास और भरोसा कहाँ देखा जाता? इसी लिए देखा जाता बीसवाँ शताब्दी के तथाकथित ज्ञान-विज्ञानगर्वी तथा सभ्यता-संस्कृतिस्पर्धी नरनारी के कंठ से प्रगतिवाद का नाम पर वही गर्व-गरिमा का झुटा गुंज उठता—यानी कार्ल मार्कस की वाणी, जिनको इस युग का स्त्यद्रष्टा ऋषि कहा गया और जिनकी दिव्यदृष्टि जीवन-समस्या समाधान का चरम सूत्र माना गया है। उन्होंने ईजाद दी है साम्यवाद, जिसे सारे जागतिक व्याधि का अनोखा निदान कहा गया। मार्कस का कहना है, हमारे ऋषि-मुनिओं और अवतारों ने समस्या का समाधान के नाम पर जो विधि-विधान की सूचना दी थी वह धनी और निर्धन में विशाल व्यवधान लाया। और भी उससे शिक्षित और अशिक्षित के बीच विभेद की ऊँची दीवार उठी है, साथ ही आया जातिभेद, वर्णभेद और संप्रदाय भेद। ऋषिओं की शिक्षा धर्मरूप अफ़ीम पिला कर सरल नरनारीओंको चेतनहीन, जड़भाव कर रखी है। नतीजा में मानव हुआ है विभ्रांत। अतएव मार्कस कों सत्यद्रष्टा महापुरुष, और उनकी किताब 'दास केपिटल' दिग्‌दर्शक महाग्रंथ मान जाने लगे। कहा जाता कि उनका निर्देशित मार्ग ही सत्य तथा शांतिलाभ का श्रेष्ठ मार्ग है।

साथीओं धर्मभूमि भारत के आर्य ऋषिओंके वंशजों के सामने समाजवाद और साम्यवाद है आज सबसे बड़ी चुनौती, जिसका मुक़ाबिला सब धर्मगुरु और धर्माचार्य को करना होगा। समाजवाद तथा साम्यवाद के नारे उठानेवालों को कहना होगा, प्रमाणित करो कि तुम्हारे प्रगतिवाद का मार्ग है निर्भूल और युक्तिपूर्ण। वाकई आध्यात्मिक जगत में इससे बड़ा विपद पहले नहीं आया।

आप लोग मुझे पूछ सकते—''स्वामिजी, इस संदर्भ में आप क्या करना चाहते हैं?'' जवाब में मैं पूछूंगा, अन्न-वस्त्र की समस्या बड़ी, या सारी विषमता से परे जो आत्मिक चेतना होता वह उपलब्ध करने की समस्या बड़ी है? मैं कहूँ इस विषय पर आचार्य शंकर का विख्यात 'ततः किम्' स्तोत्र का याद करना चाहिए। उस स्तोत्र से आचार्य शंकर ने छानबीन कर प्रश्न उठाने के माध्यम हमें समझाते हैं : अगर तुम पहाड़-समान दौलत का मालिक वनो, तुम्हारा रूप-योवन असामान्य हो, अशेष यश-मान तुम्हें मिले, यानी जगत के जो भी सुन्दर और सुखभोग्य तुम उसके मालिक हो पाओं, तब भी 'ततः किम्'—उसके बाद क्या? अर्थात्, क्या इस नश्वर जगत के सबकुछ ही अलीक, अनित्य नही है? सबकुछ पाकर भी क्या एक दिन तुमको खालीहाथ चिरविदाई लेना नहीं पड़ेगा? अतएव, तुम और

गहराई तक सोचो। इस नश्वर जगत की किसी भी समस्या का समाधान सूत्र चिरस्थायी न हुया, हो भी नहीं सकता। जिस तरह वात-व्याधि शरीर का एक अंग को विगड़ कर दूसरे को पकड़ता, लौकिक जगत में एक एक युग में आई समस्याओं उसी तरह युग युग में मानव समाज पर प्रहार की है, आगे भी करेगी। तो बाहरी समाधान चरम समाधान के रूप में कभी भी मानव को चिरसुखी कर न सकेगा।

आवश्यक है आत्म-तत्व संधान का। पर उस आत्म-तत्व संधान का साधना सफल करने के लिए लौकिक जगत के समस्याओं के युगोपयोगी समाधान भी अत्यावश्यक है। जितने दिन मानव को जीबित रहना है उतने ही दिन उसकी क्षुधा-तृष्णा मिटाने की कोशिश करना पड़ती। उसी तरह केवल अपना नही, सबके देह सेहतमंद रखना ही होता। फिरभी तजरबे के जरिए मनुष्य को एक दिन समझना पड़ता कि अन्न-वस्त्र-शिक्षा से परे उसकी एक सत्रा होती जिसके संतोष विना बाहरी सब प्रयास निस्फल रह जाता। अतएव यह देखना होगा कि प्रगतिवाद की चपेट में आ कर हम अपना दुर्गति को दावत न दे बैठे। हम सबको आज आत्मस्थ हो कर इस महान आप्तवाणी पर ध्यान देना होगा—''आत्मानं विद्धि, यष्मिन विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'' उस आत्मा को जानो, जिसे जानने पर सब जाना जाता है। ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः।

भारत सेवाश्रम संघ की हिन्दी किताबें

युगाचार्य जीवन चरित	३०.००
जीवन की झाँकिया	२५.००
ॐ संघवाणी	२५.००
जीवन साधना का पथपर	२५.००
वह्मचर्यम	६.००
हिन्दुत्वमं	६.००
गगां सागर की माहात्म्य	४.००
गया महात्म्य	५.००
प्रणवानन्द उपदेश	५.००
कुम्भमेला माहात्म्य	५.००
ॐ श्रीश्री जगदगुरु	४.००
महाभारत की वालीपयोगी कहानियाँ	३०.००
पाथेय	१०.००
प्रणबानन्दजी की जीवनी तथा उनके संघ की गतिविधियाँ	५.००
भाषणांजलि	२०.००